दो शब्द

"क्रांति कैसे हो" हजारीबाग जेल में उस समय लिखा गया जब सन् ४२ की क्रांति ठंढी पड़ चुकी थी और कार्य्यकर्त्ता निराश और दुखी हो रहे थे। पुस्तक के साथ मेरे जीवन का एक अध्याय गुँथा हुआ है, जिन्हें प्रकाश में लाने का समय अभी नहीं आया है। जेल से यह पुस्तक चोरी से तीव्र विरोधों के बीच बाहर निकली और इसके अंग्रेजी तथा बंगला संस्करण बंगाल की कांग्रेसी सरकार ने जप्त कर लिये। इस पुस्तक का ही जीवन क्रांतिकारी-जीवन रहा है।

लहेरियासराय
१ मई—१९५२

रामनन्दन मिश्र

विषय सूची

			पृष्ठ संख्या
१।	क्रांति की आवश्यकता	—	११
२।	क्रांति और राज्यव्यवस्था	—	२३
३।	क्रांति और श्रेणी-संघर्ष	—	४५
४।	क्रांति और समाज	—	५९
५।	क्रांतिकारी पद्धति	—	७१
६।	भारतीय क्रांति के मौलिक प्रश्न	—	९९

मोघमन्नम् विन्दतेऽप्रचेता ।

सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।

अर्यमणम् न पुष्यति न सखायम् ।

केवलाघो भवति केवलादी ।

ऋग्वेद—

जो धन संग्रह करता है वह सच्चा मूर्ख है। ऐसा कर वह अपना वध आमन्त्रित करता है। वह न अपनी ज्ञाति की सहायता करता है न मित्रों की। अपने स्वार्थ में ही डूबा वह पाप ही पाप करता जाता है।

क्रांति की आवश्यकता

विश्व-समस्या

विश्व के रंगमंच पर मानव के आने की और धीरे-धीरे सारे संसार के एक छत्र सम्राट् बन जाने की कहानी सबसे दिलचस्प और नाटकीय है। छोटे-से मानव ने जब आँख खोली तो देखा बड़े-बड़े जानवर हैं, घनघोर वन है, क्षण-क्षण प्राणों का संकट है। पर उसके माथे में नई शक्ति थी सोचने की, शरीर में दो हाथ थे। धीरे-धीरे हाथों के उपयोग से—अनुभव से उसने अपने से कई गुने बलशाली पशुओं को परास्त किया; धूप, वर्षा और ठंडक से अपने बचाव का उपाय ढूंढ निकाला।

सबसे कठिन समस्या मानव के सामने सदा से रही है, जीवनोपयोगी साधनों—यानी भोजन, वस्त्र, घर इत्यादि के जुटाने की। तरह तरह के वृक्ष, खान, मिट्टी, जल, हवा, सूरज, चाँद को अपनी छाती पर लेकर प्रकृति नाचती रहती है, पर इसमे मानव को क्या ? चीड़ के दरख्तों से, सूर्य की रोशनी से इन्सान के पेट नहीं भरते, पहिनने के कपड़े नहीं मिलते। उसके सामने समस्या थी और है कि ससार के पदार्थों को अपने अनुकूल कैसे बनाया जाय।

इस पृथ्वी पर पैर रखते ही जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक साधन जुटाने की कठिन जजीर मानव के पैरों मे कस गई। इन्हें तोड़े बिना, वह न सास्कृतिक विकास कर पाता है, न सामाजिक। ज्ञान की वृद्धि ज्ञान की प्यास तेज करने के साथ उसके निराकरण के लिए विशाल मानव के जीवन में अवकाश और बौद्धिक विकास के साधन नहीं जुटा सकी। साहित्य, दर्शन, कला, सभी मुट्ठी भर अवकाश प्राप्त वर्ग के हाथों में बँधे रहे।

धनी वर्ग ने आर्थिक साम्राज्य के साथ मानव जीवन पर बौद्धिक और सास्कृतिक आधिपत्य भी कायम कर लिया। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, इन जजीरों की सख्या और कठोरता बढती ही गई। इनको तोड़ने की लड़ाई का इतिहास ही मानव के ५ लाख

वर्षों के जीवन-इतिहास का आधार है। इन जंजीरों की दीवार से मानव-धारा युगों से आकुल विह्वल लहरों में टकराती आ रही है। पर, यह दीवार न टूटी, साथ साथ मानव का भी प्रयत्न न छूटा।

अपनी हवा के अंचल में, जल के पिच्छलकणों में, अतल गर्भ में; सूर्यरश्मियों के गहन कोष में, पदार्थों के परमाणुओं में, प्रकृति अतुल वैभव छिपाए अपनी ही धुन में मस्त बहती रही, पर नहीं माना मानव ने—व्याकुल हो जीवन-संघर्ष से प्रकृति के वक्ष स्थल पर वह वज्र प्रहार करता ही रहा। धरती की छाती चीर उसने कोयला निकाला, रत्न निकाला, हवा के अंचल से विद्युत् लिया, उसकी लहरों को संवाद-वाहक दूत बनाया, उड़न-खटोले आसमान में उड़ने लगे, पृथ्वी के कोने कोने में भापकी गाड़ी चलने लगी।

१९वीं सदी के प्रारम्भ में विज्ञान का प्रकृति पर अधिकार इतनी दूर तक बढ़ा कि विशाल मानव समुदाय के लिए जीवन की आवश्यक सामग्री प्राप्त करना आसान हो गया।

विज्ञान के उस विग्रस के कारण मालूम होने लगा कि मानव के लिए अपने पैरों से एक बड़ी जंजीर तोड़ फेंकने का

अवसर उपस्थित हो चला है। पर आज १५० वर्ष बीत चले, उसकी यह आशा पूरी न हो सकी। मानव का ही एक छोटा गिरोह बाधक बन कर पथ रोके खड़ा रहा। संतो ने, दार्शनिकों ने, कवियों ने, समाज सेवकों ने करुण भरे स्वर में पुकार-पुकार कर कहा—"धनपतियों ! भूखी, नंगी, पीड़ित जनता को देखो। अपने स्वार्थों से ऊपर उठो। सब मिलकर विश्व कल्याण करो।" पर उनकी पुकार अनसुनी ही रही !

धनपतियों की स्वार्थ-ज्वाला पर लंदन, पेरिस, वियेना, मैड्रिड, चीन, जर्मनी, भारत के मजदूर किसानों ने अपना कितना ही रक्त बहाया पर धनपतियों का हृदय न पसीजा।

किंतु सब विरोधों के बावजूद समाजवाद की जड़ संसार में दिन-दिन मजबूत ही होती गई। संसार में जिधर भी नजर उठाइये सभी बड़े कवि, दार्शनिक समान से कह रहे हैं—"समाजवाद में ही मानव जाति का कल्याण है।" यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वर्तमान युग का सर्वमान्य बौद्धिक-विश्वास समाजवाद ही है, पर, करोड़ों भूखों और नंगों के आर्तनाद को अनसुनी कर, विचारकों की भावना को ठुकरा छोटा सा धनपति वर्ग अपने स्वार्थ में पागल बना, पशुबल से अपनी सत्ता कायम रक्खे हुए है। अर्थ

हाँन पुराने युग के वायुमंडल में संसार के भावुक कवि गेनये युग के आने की राह देख रहे हैं, रह-रह कर उनके प्राण तड़प तड़प कर पूछते हैं—"कब हमारा स्वप्न पूरा होगा ?"

छोटे से धन पति वर्ग के पास राज्य-शक्ति है। राज्य-शक्ति के साथ हवाई जहाज है, मशीन गन है, तरह-तरह के अस्त्र शस्त्र हैं। इनके बल पर मदान्ध यह वर्ग युग की पुकार को ठुकरा रहा है। यह स्वेच्छा से अपना अधिकार नहीं छोड़ने वाला! इस युग की, सारी मानव जाति की सबसे बड़ी समस्या है इस वर्ग के हाथों से सत्ता को छीनना, याने क्रांति। अंतर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी जगत के सामने सबसे अहम मसला यही है।

विकास और क्रांति

क्या क्रांति के बिना समाज का काम चल सकता है ? जो विकास वाद को मानते हैं उनका एक ही उत्तर हो सकता है-"नहीं" क्योंकि क्रांति विकास की एक लड़ी है—एक सीढ़ी है। विकास की धारा में क्रांति का क्या स्थान है, इसे समझने के लिए संक्षेप में हमें सामाजिक विकास का आधार और प्रगति का नियम समझना होगा।

परिवर्तन नहीं होता, किंतु दूसरी मे आमूल रूप परिवर्तन हो जाता है। पहले को आप विकास कहें और दूसरे को क्रांति, पर दोनों प्रकृति के स्वाभाविक धर्म हैं। पानी में ११२° गर्मी देकर आप उसके भागने का द्वार बंद करदें तो वह धक्के देगा, तूफान रचेगा, और बंधनों को तोड़ने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देगा।

हर युग में समाज के विकास की मांग होती है, समाज का पुनर्गठन। पर, पिछले युग के संगठन से जिस दल को फायदा होता रहता है, वह समाज को बाँधकर रखना चाहता है। युग की धारा इन बंधनों से टकराती है, इन्हें तोड़ने को धक्के पर धक्के देती है! युग की धारा का यह प्रयत्न अत्यंत स्वाभाविक है। क्रांति कुछ शैतानों के दिमाग की उपज नहीं है। यह समाज के विकास की स्वाभाविक लड़ियों की एक लड़ी है। अस्वाभाविक है, निहित स्वार्थ वालों का उसको रोकना, सत्ताधारियों का अपने स्वार्थ के लिए मानवता की विकास धारा को पशुबल से बाँधना। क्रांति-युग की खून-खराबियों और विध्वंस की सारी जिम्मेदारी इन्हीं सत्ताधारियों पर है।

तमाशा तो यह है कि इनका प्रयत्न अन्त में निष्फल ही रहता है। युगधारा सदा के लिए रोक सके, यह सामर्थ्य किसी में

नहीं। यद्यपि इनके चलते समाज को व्यर्थ के कष्ट के बीच से गुजरना पड़ता है। किंतु इनका स्वार्थ न छोड़ना भी शायद स्वाभाविक ही है। इसीलिए इस कष्ट को क्रांतिकारी समाज की प्रसव-पीड़ा कहते हैं और इसीलिए पुराने समाज के गर्भ से नए समाज का जन्म बिना शक्ति की सहायता के नहीं होता है।

व्यक्ति और क्रांति

क्रांति एक सामाजिक आवश्यकता है। किसी व्यक्ति के दिमाग की न उपज है, न किसी व्यक्ति की मर्जी पर आश्रित। समाज की आवश्यकता अनुकूल व्यक्तियों को आगे बढ़ाती है, उन्हें नेता बनाती है, महापुरुषों में परिणत करती है। अकबर के भारत में तुलसी पैदा हुए, समाजवादी नेता नहीं। इतिहास की आवश्यकता ही इतिहास की धाराओं को पैदा करती है।

समाज को बदलने की भावना से कम शक्तिशाली भावना समाज को कायम रखने की नहीं होती। साधारणतः समाज-रक्षा की भावना ही प्रबल रहा करती है। जैसे विरोध सत्य है, वैसे ही विरोधों की एकता भी। नाराज और दुखी किसान भी जमींदार के घर रुपये दे आता है। मजदूर कारखानों को चालू रखता है। पुराने समाज को तोड़े बिना जीवन और प्रगति जब असम्भव

दीखने लगता है, तभी क्रांति की अग्नि फूट पड़ती है

ऊपर कहा जा चुका है कि शक्ति धाई का काम करता है। परंतु कोई धाई ५ महीने में जिन्दा बच्चे को नहीं निकाल सकती। ९ महीना पूरा होने पर ही धाई अपना काम कर सकती है। वैसे ही समाज की आवश्यकता स्पष्ट और तीव्र होने पर ही व्यक्ति सफल क्रांति का नेतृत्व कर सकता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति का समाज परिवर्तन या क्रांति में कोई स्थान नहीं। परिस्थिति और आवश्यकता तो स्वयम् निर्जीव है। परिस्थिति दिशा बताती है, इतिहास की रचना नहीं करती। इतिहास का निर्माण मनुष्य करता है। मनुष्य की कामना, जोश, साहस, इतिहास के रथ को चलाते हैं। इतिहास की दिशा निर्धारित हो जाने पर, आगे की गति उस समय के प्रमुख व्यक्तिओं के चरित्र पर निर्भर करती है। कोई नेता इतिहास की दिशा का निर्धारण नहीं कर सकता, परन्तु इतिहास की धारा का चढ़ाव उतार उसके कार्य-कलाप पर निर्भर करता है।

रूस में क्रांति होती ही परन्तु लेनिन जैसा नेता न मिला होता तो सम्भव है कुछ वर्षों के लिये क्रांति रुक जाती अथवा दूसरा

रूप होता। सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के पास क्रांतिकारी प्राण होता अथवा स्पार्टेक्स लीग के पास जन प्रभाव होता तो १९१९ ई० में जर्मनी में क्रांति हो जाती और विश्व इतिहास ने दूसरा रूप लिया होता। व्यक्ति और परिस्थिति दोनों का इतिहास के निर्माण में महान् स्थान है।

लेकिन यह हमें बराबर याद रखना है कि क्रांति समाज की महान आवश्यकता है—इसलिए हेगेल के शब्दों में कल्याण-कारी है। आज समाज की सबसे बड़ी नैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आवश्यकता है—क्रांति।

क्रांति और राज्य-व्यवस्था

क्रांति

संसार को बहुत देखा, सुना, मनन किया, प्रश्न है—संसार को बदलने का, आमूल परिवर्तन का। एक राजा को हटाकर दूसरे को गद्दी पर नहीं बैठाना है, एक दल की सत्ता हटाकर दूसरे दल की सत्ता नहीं कायम करनी है, बल्कि समाज की ओर से कब्जा करना है, किसानों को सारे पृथ्वी तल पर फैले हुये जमींदारों के भूखण्डों और महलों पर, मजदूरों को शहरों के चलते हुये कारखानों पर; बहादुर किसान और मजदूरों के दस्तों को आम जनता की मदद से राज्यसत्ता के बिखरे हुये शक्ति-केन्द्रों पर।

इतना बड़ा उलट फेर छोटे गिरोहों से नहीं हो सकता। समाज के विशाल समुदाय को इस क्रांति-समर में , इस महायज्ञ में शामिल होना है, क्रियात्मक रूप से ! पर क्रिया के पहले इच्छा होती है और इच्छा के पहले विचार।

सबसे पहले विचारों में क्रांति होनी चाहिये। जब तक किसान जमींदारों को अपना माँ-बाप समझता रहेगा—उसके सामने सर झुकाता रहेगा, क्रांति असम्भव है। उसके हृदय से धनपतियों की सत्ता पहले मिटानी होगी ; उसके हृदय में यह भाव जगाना होगा कि उसकी गरीबी का कारण भगवान या उसका भाग्य नहीं बल्कि समाज का विधान है।

इस सम्बन्ध में एक घटना याद आती है। दो-पहर की कड़कड़ाती धूप में दो किसान पसीने में चूर करीन से अपने खेत पटा रहे थे कि उस रास्ते से १६ कहारों के कंधो पर आराम से सोये हुये गाँव के मालिक की सवारी निकली। पालकी के दोनो तरफ दो नौकर दौड़ते हुये पैर दबा रहे थे। एक किसान ने अपने साथी से पूछा—भाई मिहनत हम कर रहे हैं और पैर मालिक का दुखा जा रहा है। साथी ने जवाब दिया—"उस जन्म

का उसका पैर दुखा हुआ है ; उसी के फल से इस जन्म में भगवान ने उसके आराम का इन्तजाम कर दिया है।"

जबतक इस तरह के विचारों के अफीम के नशे में आम जनता डूबी रहेगी, क्रांति असम्भव है। जनता के दिल में हर मिनिट यह ख्याल सुलगता रहना चाहिये कि कुछ शैतान बुद्धि और बल से उनकी रोटी, आराम और आजादी को दखल किये हुये हैं। इस आग को प्रज्वलित करना ही क्रांतिकारी का पहला कर्त्तव्य है।

रूसो की एक किताब ने, मार्क्स के एक वक्तव्य ने, लाखों बमों और पिस्तौलों का काम किया। बम का मुकाबला हो सकता है, पर विचारों का नहीं; पिस्तौल दुश्मन छीन ले सकता है, पर करोड़ों जनता के हृदय की भावनाओं को कोई हड़प नहीं सकता। यही क्रांति की असली कुंजी है।

पर, यदि भावनायें विचारों के जगत में ही उलझी रह जावें तो इनसे भी काम पूरा नहीं होने का ! करोड़ों मनोरथ दुखियों और भावुकों के दिल में उठते हैं और हवा हो जाते हैं पर उनसे दुनियाँ नहीं बदलती। इन विचारों के पीछे बेचैनी और तड़प भी तो होनी चाहिये। क्रांतिकारी-भाव जब दिन-रात जनता के हृदय को

चलनी करते रहेंगे, तभी जनता आगे बढेगी कुछ करने की बात सोचेगी।

परन्तु निराशा के घने अन्धकार में डूबी हुई तड़पन भी मनुष्य को आगे नहीं बढाती। बगाल के लाखों किसान 'हाय अन्न 'हाय अन्न कर मर गये, इन्होंने दल बाध कर सरकारी दफ्तरों पर हमला नहीं किया। क्यों ? विश्वास की कमी ! इनके हृदय से यह विश्वास मिट चुका था कि हम लड़ कर अपनी रोटी हासिल कर सकते हैं। इसलिये क्रातिकारी के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह जनता के हृदय से निराशा का कुहासा मिटाकर, आशा की किरणों को जगमगा दे।

यह तभी सम्भव है जब हम किसानों और मजदूरों का सगठन कर पहले उनकी छोटी छोटी लड़ाइयाँ लडे और उन्हें उनकी शक्ति का ज्ञान करावें, उनमें वर्ग भावना और चेतना जागृत करें। याद रहे रोजमर्रा की लड़ाईयों के दर्म्यान ही वर्ग-भावना जागृत होती है ; विचारों में क्राति होती है।

इस तरह जब जनता क्रातिकारी विचारों से प्रभावित और क्रातिकारी इच्छाओं से प्रेरित होती है, तभी उसे कार्य के मैदान में,

जनता के समर में लाया जा सकता है। क्रांतिकारी का यही पहला कदम है।

पर इन सब तैयारियों का मकसद क्रांति के समर में जनता को उतारना है। जमीन और कारखानों का मालिक कौन हो,इसका अंतिम निर्णय शक्ति-संघर्ष में ही होगा। यह वसुन्धरा वीर-भोग्या है। शक्ति के बल पर ही सत्ताधारी जनता का शोषण करते हैं और शक्ति के बल से ही उनके हाथों से सत्ता छीनी जा सकती है।

राज्य-व्यवस्था

क्रांति के समर में जब जनता खड़ी होती है तो देखती है कि उसके सामने जमींदार नहीं है, पूंजीपति नहीं है, भाड़े पर खरीदे गये उसके ही अपने भाई पुलिस और सिपाही की शक्ल में अस्त्र-शस्त्रों से लैस उसे कुचलने को सीना ताने खड़े हैं। धनपति वर्ग स्वयं अपनी ताकत पर पाँच मिनट भी शोषित जनता का सामना नहीं कर सकता। वह लड़ता है राज्य-शक्ति की ।
शक्ति के मार्फत। इसलिये जनता की लड़ाई का अंतिम रूप होता है राज्य-शक्ति और जन-शक्ति में संघर्ष। पूंजीवादी राज्य शक्ति को ध्वस या काबू में करके ही धनपतियों के हाथ से सत्ता छीनी जा सकती है; क्रांति सफल हो सकती है। पूंजीवादी राज्य-

शक्ति का मुकाबला क्रांति से किया जा सकता है। शक्ति से ही शक्ति का उच्छेद सम्भव है।

इसलिये अब हमें यह देखना है कि जिस शक्ति से हमें लड़ना है—यानी राज्यशक्ति —उसकी रूपरेखा क्या है ?

राज्यशक्ति का रूप दो तरह का होता है—मूर्त्त और अमूर्त्त। हजारों हजार मील चले जायँ, एक भी सैनिक कहीं नहीं देखेंगे, लाखों जन समूह के बीच, सिर्फ ५-६ सिपाहियों का दल आप थाने में पायेंगे। फिर भी हर गाँव में, हर आदमी को सरकार से डरते देखेंगे। क्यों ? राज्यशक्ति का रोब। इस अमूर्त्त रोब के बल से ही राज्यशक्ति के रोजमर्रा के ९९ फी सदी कार्य्य चलते हैं। इसी के भय से किसान जमींदार के घर—अपनी औरत और बच्चों को भूखा रख, गल्ला बेच—मालगुजारी दे आता है; मजदूर कारखानों को दखल नहीं करता; किसान साहूकार के हाथों अपनी जमीन और दौलत एक कर्जदार के रूप में सौंप देता है। इसी अमूर्त्त रोब के कारण हमें समाज के सतत चलते हुए संघर्ष दिखाई नहीं पड़ते।

इस रोब का चढ़ाव उतार हम स्पष्ट देख सकते हैं। जापान से सैनिक युद्ध में पराजित होते ही जारशाही का प्रभाव

इतना नीचे गिर गया कि १९०५ में रूसी जनता क्रांति-समर में कूद गई। १९१७ में फौज ने सरकार का साथ छोड़ दिया और महाप्रतापशाली जार रेल-मजदूरों के हाथों बंदी हो गया।

अपने मुल्क में ही हमने देखा, १९४२ में जब जापान की सेना दक्षिण पश्चिम द्वीप समूहों को विजय करती, सिंगापुर को दखल कर बर्मा से अंगरेजी फौज को भगा आगे बढ़ती जा रही थी तो सरकार का रोब किस तरह काफूर हो गया था—और सरकार अब जा रही है तब जा रही है—यह भावना रोज-रोज किस तरह बढ़ती जा रही थी। क्रांतिकारी ऐसे ही अवसर की ताक में रहते हैं।

प्रजासत्तात्मक प्रणाली में 'जनता के प्रतिनिधि राज्य करते हैं, यह भावना राज्य सत्ता को नैतिक बल देती है। इस तरह राज्य-शक्ति का अमूर्त्त प्रभाव बढ़ता है। उपर्युक्त भावना कितनी झूठी है, इस पर हम अगले प्रसंग में प्रकाश डालेंगे। प्रचार द्वारा इस प्रभाव को मिटाना भी क्रांतिकारी का काम हो जाता है।

इस राज्यशक्ति के अमूर्त्त रूप के पीछे भयंकर मूर्त्त रूप निम्नलिखित प्रकार का है—

(१) पुलिस, (२) फौज, (३) जेल, और (४) अदालत,

ये सभी आतंक के साधन हैं। आतंकवाद के मनोवैज्ञानिक आधार पर ही राज्यसत्ता की इमारत खड़ी है। लेनिन ने कहा था—"हिंसा का एकाधिकार ही राज्यसत्ता है"। हम किसी को मार नहीं सकते, बंद नहीं कर सकते पर स्टेट जो चाहे कर सकता है। युग के महा-पुरुष महात्मा गांधी को एक साधारण हाकिम या अफसर स्टेट के नाम पर जेल में बंद रख सकता है। कानूनी शासन का अर्थ है-जमींदारों की मालगुजारी वसूल होती रहे, पूंजीपतियों के हाथ में कल कारखाने कायम रहें, महाजनों को कर्ज और सूद मिलता रहे।

विशाल जनता की मर्जी के विरुद्ध अगर शासन चलाना है तो आतंकवाद का आश्रय लेना ही होगा। लाखों किसान अपने पसीने की कमाई जमींदार को देते रहें, यह प्रथा अगर जारी रखनी है तो भाड़े पर आदमी रखकर उनसे जनता को भयभीत रखना ही होगा।

इस तरह के कानूनी आतंक की सफलता का मनोवैज्ञानिक आधार है प्राणी का शरीर और सम्पत्ति का मोह और सामाजिक आधार है मारने के अस्त्रों का विकास।

इन्हीं अस्त्रों के बल पर आज सभी देशों की सरकारें प्रचंड शक्तिशाली हो गई हैं। धीरे-धीरे समाज के सभी साधनों को इन्होंने अपनी मुट्ठी में ले लिया है। ऐसी सरकारों के विरुद्ध जनता की आजादी को ही रह गई है।

६

इस प्रसग में मैं जनता को चेतावनी दे देना चाहता हूँ कि भारत की राष्ट्रीय सरकार भी इससे परे की चीज नहीं है। एक ओर है, भारत की नि:शस्त्र जनता अहिंसा का पाठ पढ़े, दूसरी ओर है अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सरकार। संसार के किसी भी देश की सरकार सम्भवतः इतनी शक्तिशाली नहीं होगी। जनता के सब अधिकार सरकारी कर्णधारों की मधुर-स्वेच्छा पर निर्भर करते हैं। राष्ट्रीय सरकार होने का नैतिक बल, फौज का पशुबल, दोनों ने मिलकर सरकार को भयंकर शक्ति-सम्पन्न बना दिया है।

इस प्रसंग पर यहाँ ज्यादा कहने की आवश्यकता नहीं है। हम विचार कर रहे थे राज्यशक्ति के मूर्त्त और अमूर्त्त रूप पर। इसके साथ साथ यह भी जानना है कि सरकार का गाड़ी चलती है किस बल पर। इसकी खुराक कहाँ से आती है; जवाब है "टैक्स" से। अरबों रुपया देश के हर कोने से सरकारी खजानों में इकट्ठा होता है और इन्हीं रुपयों के सहारे हमारे लोग भाड़े पर पुलिस और

फौज में भर्ती होते हैं और इन्हा के द्वारा जनता को कुचल कर रखा जाता है।

इनके अलावे सरकार की शक्ति का आधार एक और है, जनता के ही एक अंश का सहयोग। स्वार्थ या भय से बहुत से लोग देश और विशाल मानव समुदाय के हित को भुला कर सरकार का साथ देते हैं। करबंदी ले लीजिये। एक तरफ तो लोग देश के नाम पर अपना सर्वस्व होम कर देते हैं, दूसरी तरफ कुछ स्वार्थी नीलाम होती हुई जमीनें खरीदने के लिये तैयार हो जाते हैं। क्रांतिकारी जान को हथेली पर लेकर देश के लिये सरकार से बगावत करते हैं पर दूसरी तरफ रुपयों की लालच से कुछ लोग इन्हें सरकार के हाथों सौंप देते हैं।

इसलिये हमें ऐसी शक्ति का संग्रह करना है जिससे हम नीचे लिखे काम कर सकें।

(१) राज्यसत्ता के अमूर्त रूप का नाश।
(२) राज्यसत्ता के शक्ति-केन्द्रों याने उनके मूर्त रूप का नाश।
(३) टैक्स-बंदी।
(४) सरकार के सहयोगी जन-अंशो को काबू में रखना।

इन्हीं को पूरा करने का अर्थ है राज्यसत्ता का समूल नाश और सफल क्रांति।

राज्य-सत्ता का जन्म

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब सभी व्यवस्था समाज की आवश्यकता को लेकर ही पैदा होती है तो राज्यसत्ता का जन्म ही क्यों और किसलिये हुआ ? याद रहे, एक दिन ऐसी राज्यसत्ता की आवश्यकता था। परन्तु एक युग की आवश्यकता दूसरे युग में अनावश्यक ही नहीं बंधन भी बन सकती है। इसलिये यहाँ थोड़ा रुककर यह समझ लेना है कि राज्य सत्ता को किस आवश्यकता ने जन्म दिया।

आदिम अवस्था में मानव समाज की एक प्रकार की समाजवादी व्यवस्था थी। एक जगह पर रहने वाले लोग आपस में मिलकर प्रबन्ध चलाते थे। पुरुष शिकार करता, स्त्रियाँ घर का काम करतीं, आन्तरिक मतभेदों का निपटारा आपसी बातचीत से होता था, बाह्य मतभेदों का युद्ध से। युद्ध में जातियों या वंशों का नाश होता था पर एक दूसरे के अधीन नहीं होते थे। घर, बाग, नाव आदि सभी सार्वजनिक सम्पत्ति थी।

परन्तु मानव समाज विकासशील है। एशिया महादेश के रहनेवाले इन गिरोहों ने धीरे-धीरे जानवरों को पालना सीखा। जानवरों से सिर्फ दूध ही नहीं, बल्कि वर्ष में नये जानवर मिलते थे

जिससे मांस का भी काम चलता था। आर्य, सेमेटिक तथा अन्य लोगों के ऐसे गिरोह जो इस काम में मुखिया थे, अब उन्नत समाज में गिने जाने लगे। पहले-पहल समाज में अंतर पैदा हुआ। उन्नत समाज के पास दूध, मांस, ऊन, चमड़ा और ऊन के वस्त्रों का परिमाण बढ़ने लगा। परिमाण ज्यादा होने से विनिमय का भी सूत्रपात हुआ।

शुरु में यह विनिमय जाति के मुखियों द्वारा होता था, पर जैसे-जैसे पशुओं पर व्यक्तियों का स्वामित्व कायम होने लगा, विनिमय व्यक्तियों के बीच भी चल पड़ा। उस समय ये लोग पशुओं से ही अन्य सामानों का विनिमय करते थे। पशुओं से ही अन्य वस्तुओं का मूल्य आंका जाता था, यानी आजकल की मुद्रा का स्थान पशु ने लिया।

खेती की अग्रदूती बागवानी धीरे धीरे शुरु हो चली। कई स्थानों पर पशुओं के लिये साल भर चारा जुटाना जंगल में सम्भव नहीं था। इसलिये अनाज और घास पैदा करना आवश्यक हो गया। अनाजों का चस्का धीरे-धीरे मनुष्यों को भी लगा और अपने लिये भी वे उसे पैदा करने लगे। उस समय जमीन सारे दल की मानी जाती थी। पैदावार कभी कभी बांट देते थे पर जमीन पर व्यक्तियों

के स्वतंत्र अधिकार नहीं थे।

व्यावसायिक दृष्टि से दो काम आगे बढ़े। (१) करघे का काम (२) धातुओं के गलाने का काम। तांबा, पीतल और टीन के तरह तरह के सामान बनने लगे। उनकी मिलावट, भी होने लगी। परन्तु अभी तक लोहे के हथियार व्यवहार में नहीं आये थे। सोना और चांदी का उपयोग आभूषणों के लिये शुरू हो गया था।

पशु पालन, कृषि और गृहशिल्प की उन्नति के साथ साथ काम की भी वृद्धि होने लगी। काम करने वालों की खोज हुई और इस मांग की पूर्ति की गई समर बंदियों से जो गुलामों में परिवर्तित कर दिये गये। समाज दो हिस्सों में बँट गया। मालिक और गुलाम, शोषक और शोषित।

अगले कदम पर हम मानव समाज के हाथों में लोहा पाते हैं जिसके व्यवहार ने एक तरह की क्रांति पैदा कर दी। खेती जोरों से फैल पड़ी। लोहे के हथियार बनने लगे। धीरे-धीरे पत्थरों के अस्त्रों ने बिदा ली। बुनाई और धातु गलाने के काम बढ़ चले। तरह-तरह के नये-नये पौधे खोज निकाले गये। तेल और

शराब पैदा करना लोगों ने सीखा। इस तरह का काम एकही व्यक्ति से असम्भव था। इसलिये उत्पत्ति के सामाजिक सगठन में दूसरा बड़ा परिवर्तन हुआ याने शिल्प और कृषि के काम बँट गए।

पैदावार बढने के साथ मनुष्यों के परिश्रम की कीमत भी बढ गई। इसके परिणाम स्वरूप गुलामी प्रथा का इस सगठन में विशेष स्थान हो गया, शिल्प और कृषि के अलग होने से अब सिर्फ विनिमय की वस्तुयें अलग और काफी तायदाद में तैयार होने लगीं। मुद्रा के स्थान पर धातुओं का सचलन प्रारम्भ हुआ। व्यापार ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप लिया।

पुराना आदिम समाज धीरे-धीरे छिन्न भिन्न हो गया। महाजन और कर्जदार, मालिक और गुलाम, शिल्पकार, नागरिक नये-नये दल पैदा हो गये। इनमें सघर्ष बढने लगा। समाज का पुराना सगठन अब इन प्रश्नों को हल करने में असमर्थ था। त्योहारों पर सारे दल भले ही जुटते हों, पर उनका नियमित बैठक असम्भव हो गई। पुराना प्राकृतिक प्रजातन्त्र मर चुका था। उनके पास जनमत को छोड़कर लोगों को दवाने का कोई अन्य साधन नहीं था पर उससे अब काम नहीं चल रहा था। धनी और गरीब, शोषक और शोषित वर्ग का सघर्ष रोज-रोज तीव्र होता जा रहा

था। ऐसे संघर्ष द्वारा ध्वस होने से समाज को बचाने का एक ही रास्ता था, वह यह कि दिखावटी तौर पर समाज से अलग एक नई शक्ति खड़ी का जाय, जो इस संघर्ष को सम्भाल में रक्खे और यह शक्ति थी राज्यसत्ता।

(एँगिल्स के आधार पर)

राज्यसत्ता का रूप

ऊपर बताया जा चुका है कि मानव समाज का विकास एक समय ऐसे मंजिल पर पहुँचा जब समाज वर्गों में बँट गया। वर्ग स्वार्थ एक दूसरे के विरोधी हो गये। समाज के अन्दर भयंकर संघर्ष पैदा हुआ। इस संघर्ष में पूरे समाज को ही भस्मीभूत होने से बचाने के लिये राज्यसत्ता की आवश्यकता हुई, जो समाज से अलग रह कर उनका नियन्त्रण करे। यह कोई बाहर से लाई हुई चीज न थी, न सत्य और न्याय का अवतार ही। हिगेल का कहना था कि "विश्वात्मा पृथ्वी पर अपने स्वरूप का ज्ञान पूर्वक अनुभव राज्य के रूप में करता है', एक कोरी कल्पना छोड़ और कुछ नहीं है।

ऐतिहासिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न देशों में इनके विकास के क्रम में अन्तर रहा है। जैसे ग्रीस में, समाज के शुद्ध आन्तरिक

सघर्ष से राज्य पैदा हुआ। रोम में पुराने समाज के बाहर के लोगों की सख्या काफी हो गई। नया दल और पुराना दल दोनों के ऊपर स्टेट का आधिपत्य हुआ। रोम साम्राज्य के जर्मन विजेताओं में स्टेट का जन्म अन्य देशों की विजय से हुआ।

पर सब जगह उनका असली रूप एक ही था। राज्यसत्ता के साथ दो चीजें और प्रकट हुई। (१) प्रजाओं का देश के अनुसार विभाजन। पहले रक्त का सम्बन्ध ही प्रधान था, व्यक्ति चाहे जहाँ रहता हो। अब भौगोलिक सीमा की प्रधानता बढ चली। (२) एक विशेष ताकत की स्थापना। राज्यसत्ता का आम जनता पर तो विश्वास था नहीं, इसलिये, आन्तरिक सघर्षों को काबू में रखने के लिये उसे रुपये देकर मनुष्यों की जमात (फौज) खड़ी करनी पड़ी, जो इसके हुकुम पर भयंकर से भयंकर दमन करने को तैयार रही। फिर इतना ही काफी न था। दमन के अन्य साधन भी राज्यसत्ता को व्यवहार में लाने पड़े, जैसे, जेल वगैरह। इनकी ताकत धीरे धीरे इतनी बढी कि समय-समय पर समाज को ही इन्होंने निगल लिया।

इन सब कामों के लिये खर्चा चाहिए। इसलिये प्रजा पर टैक्स लगाने की प्रथा जारी हुई। आदिम लोग इसे जानते भी न

थे, हम तो इसके भयकर बोझ को अच्छी तरह जानते हैं। जब टैक्सों से भी खर्चा पूरा नहीं पड़ता तो फिर ऋण लिये जाते हैं।

इस तरह सगठित हो, प्रचड शक्ति अपने बाहुओं में ले, राज्यसत्ता समाज के माथे पर सवार हो जाती है। याद रहे, राज्यसत्ता वर्गों के सघर्ष के भीतर से पैदा हुई। इसलिये राज्य सत्ता पर आर्थिक दृष्टि से सबसे शक्ति-शाली वर्ग का अधिकार हो गया। इस अधिकार को पाकर उस वर्ग ने अपनी ताकत और भी मजबूत कर ली। यही क्रम बराबर जारी है। राज्यसत्ता के बल पर एक युग में गुलामों का मालिक गुलामों को दबाता है, दूसरे युग में सामत किसानों को दबाते हैं। आजकल पूंजीवादी वर्ग मजदूरों को दबाता है।

जिन देशों में लोकतत्र शासन है, उनमें राज की इच्छा और जनता की भावना में कोई भेद नहीं मालूम होता पर यह भी एक धोखे की टट्टी है। जहाँ भिन्न भिन्न वर्गों में इतनी आर्थिक विषमता है, वहाँ लोकतंत्र एक विडम्बना मात्र है। जैसा कि डेलाइल बर्न्स ने डेमोक्रेसी में कहा है "दरिद्रता लोकतत्र को असम्भव और स्वय सभ्यता को दूषित बना देती है। दरिद्रता से तात्पर्य है भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा और चित्त की शांति की उस कमी से जिसके

कारण मानव जीवन सम्भव नहीं हो सकता। जो मनुष्य भूख या सर्दी से तड़प रहा है और बराबर इस चिंता में जल रहा है कि उसको और उसके बच्चों को रोटियाँ मिलेंगी या नहीं वह इस अवस्था में ही नहीं है कि अपने प्रतिनिधियों को चुन सके। फिर भी चुनाव होते हैं और लोकतंत्र की आड़ से अप्रत्यक्ष, पर ज्यादा प्रभाव के साथ पूंजीवादी वर्ग अपनी प्रधानता कायम रखता है। एक के बाद दूसरा राष्ट्रपति आता है, एक की जगह दूसरा मंत्री मंडल होता है, परंतु विचार करने से यह देख पड़ता है कि व्यक्ति भले ही बदलते रहें पर राज्य की नीति में कोई तात्विक परिवर्तन नहीं होता। बड़े-बड़े पूंजीपति अपनी कोठी छोड़ कर सरकारी दफ्तर में नहीं बैठते। यह काम तो अपनी कठपुतलियों अर्थात् नरेशों, राष्ट्रपतियों और मंत्रियों को सौंप देते हैं। पर इतना बराबर ध्यान रखते हैं कि कोई राजनैतिक दल उनका नुकसान न करने पावे। पूंजीपति वर्ग उनको पार्लियामेंट में आने देगा, मंत्री भी बनने देगा, क्योंकि वह जानता है कि इस प्रकार सरकारी कुर्सियों पर बैठने वाले, पुरानी पद्धतियों को आमूल नहः बदल सकते। पर जब वह देखेगा कि ये लोग सचमुच पूंजीशाही से टक्कर लेना चाहते हैं तो इनके पाँव न जमने देगा। पूंजीपति अपनी रक्षा के लिये सब कुछ कर डालेंगे। भयकर गृहयुद्ध छिड़ जायगा। इस युद्ध का कैसा रूप होता है यह हमें स्पेन में देख पड़ा है।

इसमें पूंजीपतियों का कोई दोष नहीं। उन्होंने सामंत वर्ग से लड़ कर यह पद प्राप्त किया है। उनके सारे हित उसके साथ बंधे हुए हैं। अपने स्वार्थों के लिये न लड़ना आत्महत्या करने के समान है। यह ठीक है कि पूंजीशाही ऐसे कानून भी बनने देती है जिनसे कुछ देर के लिये उसके मुनाफे में कमी हो जाती है, और मजदूरों की सुविधायें बढ जाती हैं पर यह उसकी युद्धकला है। असंतोष की आग को प्रज्वलित होने से रोकने का सरल तरीका है। पर इन छोटे छोटे सुधारों की दूसरी बात है। पूंजीशाही अपना गला आप नहीं घोटेगी और न किसी भी पार्लियामेंट या व्यवस्थापिका सभा को ऐसा करने देगी।

आजाद और गुलामों के अन्तर के साथ धनी, गरीब का भी अन्तर पैदा हुआ। समाज वर्गों में बँट गया। सारे दल की ओर से खेती करने की प्रथा भी धीमी हो चली। पहले थोड़े काल के लिये परिवारों को जमीन अलग अलग दी गई। पर पीछे यही प्रबन्ध स्थायी हुआ। धीरे-धीरे जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व पक्का हो गया।

धन की वृद्धि के साथ साथ पड़ोसियों के ऊपर अधिकार करने की लालच भी बढ़ी। बहुतों ने परीश्रम करने से ज्यादा

आसान लूटमार करना समझा। युद्ध अब राष्ट्रीय जीवन का एक प्रमुख अंग हो गया। सेनापति, सरदार या सैनिक जमातों की राजनैतिक प्रभुता बढ़ी। शहर के चारों ओर ऊँची ऊँची दीवारें उठीं और उनके चारों ओर की खाइयों में पुराना समाज सड़ने लगा। शहरों के मीनार अपना मस्तक ऊँचा कर नई सभ्यता का आगमन बताने लगे।

समाज के अन्दर सरदार के परिवार से उत्तराधिकारी चुना जाने लगा और धीरे धीरे वंश परम्परा की नींव पड़ी। शासक वर्ग समाज की इच्छा का प्रतीक न रहकर अब समाज के ऊपर हुकूमत करनेवाला दल हो गया। पर यह इसीलिए हुआ कि समाज धनी और गरीब, शोषक और शोषित वर्गों में बँट चुका था। समान स्वार्थ वाले दल के रूप में आपस में संगठित होने लगे। । परिश्रम करना एक छोटे दर्जे का काम, लूट से भी बदतर माना जाने लगा।

अब समाज में तीसरा बड़ा परिवर्तन हुआ। एक नया दल व्यापारियों का पैदा हुआ जो स्वयं तो कुछ पैदा नहीं करता पर पैदा करने वालों पर शान जमा बैठा। पैदा करने वालों को बेचने की झंझट से बचाने के बहाने उसने उनका खून चूसना शुरु कर

दिया, देशी और विदेशी दोनों तरह के व्यापार का असली नफा यही उठाने लगा। मुद्रा अब असली रूप में याने गड़े हुये मुद्रा के रूप में समाज के सामने आ गई और यही वैभव की कुंजी बन गई। जिसके पास मुद्रा हो वही ससार के वस्तुओं का भोग कर सकता है। इसी की नींव पर "सर्वसौख्य" कर्ज की प्रथा का महल उठा। ऋणदाता का भयंकर अधिकार उस जमाने के रोम और एथेन्स के कानूनों से प्रत्यक्ष है। मुद्रा के सामने ससार के अन्य सभी पुण्यों ने मस्तक झुका दिये।

धनवृद्धि के साथ साथ जमीन का मूल्य भी बढ़ने लगा। इस समय तक जमीन पर वंशानुगत, व्यक्तिगत स्वामित्व कायम हो चुका था। जमीन के टुकड़ों पर दल के जो अधिकार अबतक बच रहे थे वे लोगों को अखरने लगे।

इन बंधनों को लोगों ने तोड़ फेंका, पर कुछ ही दिनों में जमीन भी उनके हाथ से निकल गई। जमीन पर पूर्ण स्वामित्व का अर्थ सिर्फ इतना ही नहीं होता कि उस पर व्यक्ति का अधिकार अक्षुण्ण है, बल्कि उसे बेचने का भी हक उसे मिल जाता है। जबतक जमीन सारे समाज या दल की थी तबतक यह सम्भव नहीं था। जैसे ही व्यक्ति ने पुराने बंधनों को तोड़ फेंके, जमीन से

उसका अनुएण सम्बन्ध भी ढीला हो पड़ा। रुपये से अब उनकी बिक्री और बंधक भी होने लगी। स्वामित्व के साथ बिक्री और बंधक आये। जमीन पर हक मिला पर जमीन धीरे-धीरे पैसे वालों के हाथ जाने लगी।

•

व्यापार, धन, सूदखोरा और बंधक की वृद्धि के साथ सम्पत्ति कुछ लोगों के हाथ में इकट्ठी होने लगी और दूसरी ओर आम जनता की गरीबी बढ़ने लगी। पुराने सरदार जो अपने को इस परिवर्तन के साथ नहीं रख सके, ढकेल दिये गये और नया धनी वर्ग एथेन्स, रोम और जर्मन देशों में पैदा हुआ। गुलामों की संख्या अत्यंत बढ़ गई, और इन्हीं के परिश्रम पर नवीन समाज का भवन उठ खड़ा हुआ।

क्रांति और श्रेणी-संघर्ष

वर्ग-संघर्ष

जिस वर्ग-भेद का जन्म, राज्य को पैदा करता है, उसी वर्ग-संघर्ष की पूर्णाहुति राज्य-व्यवस्था को ध्वंस भी करती है। मार्क्स ने कहा है;

"मानव समाज का इतिहास श्रेणी-संघर्ष की कहानी है।"

अक्सर लोग यह कहते हुए पाये जाते हैं कि समाजवादी वर्ग युद्ध फैलाते हैं। पर सच्ची बात तो यह है कि वर्ग-युद्ध बहुत पुराने काल से चला आता है। समाजवादी सिर्फ उसकी स्थिति को स्वीकार करते हैं। उसे फैलाने की कौन कहे, वह तो उसकी जड़ ही मिटा देना चाहते हैं।

इसे समझने के लिये हमें पहले वर्ग-सिद्धान्त को समझना होगा। वर्ग है क्या ? जिस समूह के आर्थिक हित एक-से होते हैं, उसको वर्ग कहते हैं। जैसे जमींदारों का एक वर्ग है,, मजदूरों का दूसरा वर्ग है, मिल मालिकों का एक तीसरा वर्ग है। यों तो सारा मानव समाज मनुष्यों का बना है, पर गौर से देखने से मालूम होगा कि मनुष्य समाज भिन्न भिन्न टुकड़ों में बँटा है और इन टुकड़ों के स्वार्थ सिर्फ भिन्न भिन्न ही नहीं बल्कि विरोधी हैं, एक दूसरे से टकराते हैं। इसलिये इन टुकड़ों में संघर्ष भी चलता रहता है।

बहुत प्राचीन काल में न वर्ग था, न वर्ग-संघर्ष। पर जब से ऐसे समाज का उदय हुआ जिसमें कुछ लोगों के हाथ में भूमि और पूंजी पर अधिकार हुआ और दूसरे लोगों को उनके आश्रित रहना पड़ा, तब से वर्ग-संघर्ष शुरू हुआ। एक ओर वह वर्ग था जिसके सदस्य दूसरों के श्रम से लाभ उठाते थे, दूसरी ओर वह वर्ग था जिसको अपने श्रम का फल पहले वर्ग को सौंप देना पड़ता था। बिना स्वयं परिश्रम किए दूसरों के श्रम से लाभ उठाने को शोषण कहते हैं। इस दृष्टि से पहला वर्ग शोषक-वर्ग और दूसरा वर्ग, शोषित वर्ग कहलाता है।

शोषण की दृष्टि से दो बड़े वर्ग हमारे सामने आते हैं। एक ओर जमींदार और पूंजीपति ; दूसरी ओर किसान और

मजदूर। इन दो मोटे वर्गों के बीच में एक बड़ा तबका है जिसे मध्यम वर्ग कहते हैं। इसके ऊपर के भाग को उच्च-मध्यम-वर्ग कहते हैं, और नीचे वाले हिस्से को निम्न-वर्ग। ऊपर वाला भाग पूंजीपतियों पर अवलंबित है, जैसे वकील, सरकार या कम्पनियों के ओहदेदार। निम्न-मध्यम-वर्ग में, दफ्तरों में साधारण काम करने वाले, फटेहाल बाबू क्लास हैं। ये सफेद-पोश लोग होते तो गरीब हैं पर अपने को गरीब कहने में शरमाते हैं, बड़े लोगों में बैठने उठने का मौका पाकर अपने को धन्य मानते हैं। इस वर्ग में भी दो तरह के लोग आते हैं। कुछ तो ऊपर के वर्ग से गिरकर, कुछ नीचे से, किसानों, मजदूरों से ऊपर उठकर। व्यवहार में ऐसा देखा गया है कि जो ऊपर से गिरकर नीचे आते हैं, वे ज्यादा क्रांति के अनुकूल होते हैं बनिस्बत उनके जो नीचे से ऊपर उठने के प्रयत्न में रहते हैं।

कुछ लोग अपने वर्ग स्वार्थ को छोड़कर दूसरों के वर्ग-स्वार्थ से अपने को मिला देते हैं। जैसे मजदूर या किसान-पार्टियों के काम करनेवाले लोग। ये वर्ग-त्यागी होकर ही ऐसा कर सकते हैं। इनके अलावे गुन्डों-बदमाशों और भिखमंगों का भी एक निराला ही दल है। पर इन सबका समाज में कोई विशेष स्थान नहीं है। मोटे तौर पर यह समझ लें कि आर्थिक समहितों पर हमें मानव जाति को अलग-अलग बाँटना है, फिर हम स्वयं वर्गीकरण करते

सकते हैं।

इन वर्गों की शकल बराबर बदलती रही है। यह परिवर्त्तन अर्थोपार्जन के साधन में परिवर्त्तन होने के कारण होता है। प्रत्येक युग में अर्थोपार्जन की एक विशेष पद्धति होती है और उस पद्धति के कारण पैदावार के साधनों पर एक विशेष वर्ग का आधिपत्य होता है। पद्धति में परिवर्त्तन होने के कारण वर्गों की शक्ल में परिवर्त्तन हो जाता है।

वर्ग-संघर्ष (सामन्त-युग)

प्राचीन समाजवादी समाज में जब वर्ग-भेद पैदा हुआ और शक्तिवान वर्ग ने उत्पत्ति के साधनों पर कब्जा किया, उस समय संघर्ष भी अवश्य ही हुआ होगा पर उसका इतिहास आज हमारे पास नहीं। हिन्दुस्तान में ब्राह्मण और क्षत्रियों के संघर्ष, यूरोप में पोप और राजाओं के संघर्ष, उस विरोध का एक रूप था। धीरे-धीरे सामन्तवर्ग की प्रधानता कायम हो गई, इनका आपस का *संगठन प्रायः ऐसा ही होता था कि सर्वोपरि एक सम्राट या* महाराजाधिराज, उसके नीचे न्यूनाधिक स्वतन्त्र मण्डलेश्वर अर्थात् एक-एक देश के नरेश और इनके आधीन न्यूनाधिक स्वतन्त्र सामंत सरदार या जागीरदार होते थे। इन सामन्तों, राजाओं या जागीर-

दारों का भूमि पर पूरा पूरा कब्जा हो गया। आम जनता के पास यह शक्ति नहीं थी कि उसे उलट दे। राजाओं के महल और दरबार को जनता आदर और भय से देखने लगी। उन्हीं के आश्रय में साहित्य, संगीत तथा अन्य कलाएँ फलीं और फूलीं।

हजारों वर्षों के बाद धीरे-धीरे एक नये दल की शक्ति बढ़ने लगी। यों तो व्यापारी वर्ग पहले भी था और समय समय पर अपने हकों के लिए वह लड़ता भी रहा, पर धनोपार्जन का सबसे बड़ा साधन जब तक खेती रही, व्यापारी दल का प्रभुत्व नहीं बढ़ सका। जैसे जैसे संसार का व्यापार फैला और आगे चलकर मशीनों का आविष्कार हुआ, व्यापार और कारखाने धनोपार्जन के सबसे प्रधान जरिये बन गये। इसलिए कारखानों के मालिकों और व्यापारिओं के दल का जोर समाज में बढ़ने लगा।

उन्होंने अपने लिए भाँति भाँति की रियायतें चाहनी शुरू की और उन बन्धनों को हटवाने की कोशिश की, जो राजनीति तथा अन्य प्रकार से उनके आर्थिक विकास को बाँध रहे थे। उनके असंतोष ने अनेक रूप धारण किये, कहीं मजहबी, कहीं अर्द्ध-राजनीतिक, कहीं शुद्ध राजनीतिक। पुराने अधिकारी वर्ग को उनका यह काम पसंद न था, इसलिये उन लोगों ने विरोध किया।

सकते हैं।

इन वर्गों की शक्ल बराबर बदलती रही है। यह परिवर्त्तन अर्थोपार्जन के साधन में परिवर्त्तन होने के कारण होता है। प्रत्येक युग में अर्थोपार्जन की एक विशेष पद्धति होती है और उस पद्धति के कारण पैदावार के साधनों पर एक विशेष वर्ग का आधिपत्य होता है। पद्धति में परिवर्त्तन होने के कारण वर्गों की शक्ल में परिवर्त्तन हो जाता है।

वर्ग-संघर्ष (सामन्त-युग)

प्राचीन समाजवादी समाज में जब वर्ग-भेद पैदा हुआ और शक्तिवान वर्ग ने उत्पत्ति के साधनों पर कब्जा किया, उस समय संघर्ष भी अवश्य ही हुआ होगा पर उसका इतिहास आज हमारे पास नहीं। हिन्दुस्तान में ब्राह्मण और चत्रियों के संघर्ष, यूरोप में पोप और राजाओं के संघर्ष, उस विरोध का एक रूप था। धीरे-धीरे सामन्तवर्ग की प्रधानता कायम हो गई, इनका आपस का संगठन प्राय ऐसा ही होता था कि सर्वोपरि एक सम्राट या महाराजाधिराज, उसके नीचे न्यूनाधिक स्वतन्त्र मण्डलेश्वर अर्थात् एक-एक देश के नरेश और इनके आधीन न्यूनाधिक स्वतन्त्र सामंत सरदार या जागीरदार होते थे। इन सामन्तों, राजाओं या जागीर-

दारों का भूमि पर पूरा-पूरा कब्जा हो गया। आम जनता के पास यह शक्ति नहीं थी कि उसे उलट दे। राजाओं के महल और दरबार को जनता आदर और भय से देखने लगी। उन्हीं के आश्रय में साहित्य, संगीत तथा अन्य कलाएँ फलीं और फूलीं।

हजारों वर्षों के बाद धीरे-धीरे एक नये दल की शक्ति बढ़ने लगी। यों तो व्यापारी वर्ग पहले भी था और समय समय पर अपने हकों के लिए वह लड़ता भी रहा, पर धनोपार्जन का सबसे बड़ा साधन जब तक खेती रही, व्यापारी दल का प्रभुत्व नहीं बढ़ सका। जैसे जैसे संसार का व्यापार फैला और आगे चलकर मशीनों का आविष्कार हुआ, व्यापार और कारखाने धनोपार्जन के सबसे प्रधान जरिये बन गये। इसलिए कारखानों के मालिकों और व्यापारिओं के दल का जोर समाज में बढ़ने लगा।

उन्होंने अपने लिए भाँति भाँति की रियायतें चाहनी शुरू की और उन बन्धनों को हटवाने की कोशिश की, जो राजनीति तथा अन्य प्रकार से उनके आर्थिक विकास को बाँध रहे थे। उनके असंतोष ने अनेक रूप धारण किये, कहीं मजहबी, कहीं अर्द्ध-राजनीतिक, कहीं शुद्ध राजनीतिक। पुराने अधिकारी वर्ग को उनका यह काम पसंद न था, इसलिये उन लोगों ने विरोध किया।

फलत यह वर्ग संघर्ष खुला युद्ध हो गया और अधिकार का फैसला तलवार के हाथों आ गया। उभय पक्ष ने शस्त्र ग्रहण किया। व्यवसायी पक्ष भी बलवान था और अब कोरे मूक असंतोष में परितुष्ट न होकर अपने आर्थिक हितों के लिये लड़ने को तैयार हो गया। इसीके फलस्वरूप इङ्गलैंड में वह क्रांति हुई जिसमें पुराने सामन्त वर्ग की ओर से प्रथम चार्ल्स ने अपने सिर की आहुति दी और द्वितीय जेम्स को स्वदेश से पलायन करना पड़ा। यद्यपि विलियम और मेरी के अभिषेक से राजतन्त्र नाम को फिर स्थापित हो गया, पर यह राजतन्त्र दूसरे ही आधारों पर था। शक्ति का केन्द्र नरेश और उनके सरदारों तथा बड़े बड़े जागीरदारों के हाथ से निकल कर नामत साधारण जनता वस्तुत नगर निवासी व्यवसायी वर्ग के हाथ में आ गया। ज्यों-ज्यों मशीनों का आविष्कार बढ़ता गया, व्यवसायियों का बल बढ़ता गया और सरदारों का बल घटता गया। फ्रांस में सरदारों ने अपने हाथ में शक्ति अधिक काल तक रखी, क्योंकि वहाँ व्यवसाय की वृद्धि भी देर से हुई। फलत संग्राम भी बड़ा भीषण हुआ। फ्रांसीसी-क्रांति ब्रिटिश क्रांति से कहीं बढ़कर थी। राजवंश तो खत्म किया ही गया, पुरान सामन्त यथा-संभव या तो निर्जीव कर दिये गये या फ्रांस से चिर निर्वासित हो गये। झंडे पर लिखा था—स्वतन्त्रता, समानता और भाई चारा। पर युद्ध था सामन्तशाही और उठते हुये व्यवसायी नाग

रिक-वर्ग में। जीत हुई बुर्जुआ की। फ्रांस की क्रांति ने तो रूस को छोड़ कर प्रायः समस्त यूरोप के लिये इस झगड़े का फैसला कर दिया। सामंतशाही खत्म हो गई।

वर्ग-संघर्ष (पूंजीवादीयुग)

सामन्त-युग समाप्त हो गया और उसकी जगह वह युग आया जिसमें सारा अधिकार व्यवसायिओं के हाथ में चला गया। इस वर्ग ने उत्पादन में भयंकर क्रांति कर दी। प्रकृति के वक्षः स्थल में मानव ज्ञान ने प्रवेश किया। पुराने युगों की कीर्त्तियाँ इस नये युग के कामों के सामने अत्यन्त क्षीण दीखने लगीं। भाप, लोहे और लक्कड़ की गाड़ियाँ मनुष्य को संसार के इस छोर से उस छोर तक ले जाने लगीं। समुद्र के उत्ताल तरङ्गों पर लोहे के शहर तैरने लगे। पृथ्वी का गर्भ चीर मीलों नीचे जाकर मनुष्य धनराशि को उलीचने लगा। आकाश, स्वप्नों का आकाश भी लोहे की उड़ने वाली परियों से भर गया। देश और काल का बंधन टूट-सा गया। बरसों का काम मिनटों में होने लगा। उत्पत्ति के विस्तार में भीषण ज्वार आ गया।

पर यह सब होते हुए भी मानव जाति का बड़ा हिस्सा गुलामी के बंधन में जकड़ा ही रहा। स्वतन्त्रता, समता और

भ्रातृता सिर्फ आम जनता को धोखा देने के ढोंगी नारे ही साबित हुए। प्रजातन्त्र वह पर्दा साबित हुआ जिसके भीतर से सारा यन्त्र धनी घुमाते थे। राजनैतिक अधिकार, आर्थिक अधिकार से वंचित रहकर निकम्मा साबित हुआ। जिस दल का उत्पत्ति के साधनों पर अधिकार था उसीने राजनीति पर भी दखल जमा लिया। आम जनता चुनाव का तमाशा देखने को थी। धनिक वर्ग स्वयं शासन करे या न करें, वह राजनीतिज्ञों और उनके दलों को पैसे से मोल लेकर अपनी इच्छा के अनुसार शासन करता है। बड़े बड़े कवि, विद्वान और लेखक रुपये के जोर पर खरीदे जाते हैं। लाखों रुपये बहाकर अखबार निकाले जाते हैं। अखबारों को खरीदा जाता है। फिर, उनकी ताकत को कौन दबा सकता है। यों तो कहने को कानून की दृष्टि में सब बराबर हैं पर अदालती प्रक्रिया ऐसी है कि रुपये वाले के सामने निर्धन का ठहरना असंभव सा ही है।

शोर मचाकर यदि दरिद्र समाज को नाहक क्षुब्ध करना चाहें तो इसका भी प्रबन्ध है। जेल, पुलिस का इन्तजाम हुआ करता है। निर्धन चाहे बेकार हों चाहे मजदूर, यदि वह अपनी अवस्था को उन्नत करने के लिए कोई सक्रिय आंदोलन करेंगे तो अवश्य थोड़े ही दिनों के भीतर उनको राज्यशक्ति से टक्कर लेना होगा क्योंकि राज्य शक्ति धनिक वर्ग के हाथों में है।

आपस में प्रतियोगिता है। जिसकी वजह से युद्ध भी होते रहते हैं। पर तमाम संसार के धनी वर्गों का संगठन भी बढ़ रहा है। दूसरी ओर शोषित हैं, जिनका संगठन अभी तक ढीला है। पर अब ये भी समझ रहे हैं। कार्ल मार्क्स का प्रसिद्ध उपदेश उनके सामने है।

"संसार भर के मजदूरों एक हो जाओ, तुम्हें अपनी दासता की बेड़ियाँ ही तोड़नी है और विश्व पर विजय प्राप्त करना है।"

यह वर्ग-संघर्ष जो हजारों साल से चला आ रहा है, अब मानव समाज के लिए घातक हो रहा है। समाजवादी यह सब देखता है। वह जानता है कि आज जो अशांति देख पड़ती है, उसकी तह में इस वर्ग-संघर्ष का बड़ा हाथ है। पर वह यह भी जानता है कि हाथ-पर-हाथ रखकर बैठने से काम नहीं चलेगा। वह समझता है कि वर्गों के रहते केवल दया और उदारता का उपदेश देने से संघर्ष बन्द नहीं हो सकता। इसलिए वह यह कहता है कि यदि वर्ग-संघर्ष मिटाना है तो वर्गों को ही मिटा दो। इसके लिए किसी वर्ग के लोगों को मार डालने की आवश्यकता नहीं है। चाहिए यह कि उत्पादन की सारी सामग्री समाज की सम्पत्ति हो जाय। ऐसा होने पर कोई व्यक्ति पूंजी पैदा कर ही न सकेगा और न कोई किसी का शोषण करेगा। न कोई शोषक होगा, न

शोषित। जब विरोधी वर्ग ही न होंगे, तो संघर्ष किनमें होगा? सब लोग एक वर्ग—श्रमिक, मजदूर वर्ग के होंगे।

वर्ग-समाज की समाप्ति

वर्गहीन समाज के निर्माण के पहले राज्य-सत्ता में आमूल परिवर्तन करना आवश्यक है। राज्य सत्ता का काम हो गया है सम्पत्ति जावियों की सुविधाओं तथा अधिकारों को सुरक्षित रखना। इस कारण सामाजिक पुनर्निर्माण चाहने वालों के लिये यह जरूरी हो जाता है कि वे इस राज्य के रूप में क्रांतिकारी परिवर्तन करें। इस कारण यह आशा करना कि कुछ हेर-फेर कर, छोटे-मोटे सुधार कर, कुछ अफसरों को बदल कर, जनता का काम चल जायगा, जनता के हित पर कुठाराघात करना है। वैध उपायों से, व्यवस्थापिका सभा से, राज्य पर वैसा कब्जा प्राप्त नहीं हो सकता जो समाजवादी को अभीष्ट है।

यह काम शक्ति के बल पर क्रांति द्वारा ही संभव है। आज के राज्य का ध्वंश और कोई जरिये से हो ही नहीं सकता। मार्क्स ने कहा था—

"पुराने समाज के गर्भ से नये समाज को बाहर लाने के लिये शक्ति धाई का काम करती है।" (Force is the mid-

wife of the society, pregnant with a new one)

साधन का प्रश्न उठाकर इस मूल प्रश्न को ढकेल देना सरासर अन्याय है। यदि स्वाधीनता अच्छी चीज है तो पराधीन को स्वाधीन बनने का प्रयत्न करने का हक है। पिंजड़े में बंद चिड़ियों को यह सुनाना कि दूसरी चिड़ियों की भांति स्वच्छन्द उड़ने का तो तुम्हारा नैसर्गिक हक है, पर तुम इस जन्म-सिद्ध अधिकार को मेरे बताए हुए उपाय से ही करो, उसकी हँसी उड़ाना है। चिड़ियाँ अपने कैद करने वालों की राय मानने को बाध्य नहीं की जा सकती। वह अपने पिंजड़े से जिस तरह चाहे निकल जाने का प्रयत्न करेंगी।

अब प्रश्न यह उठता है कि शोषित वर्ग क्रांति में सफल होकर क्या करे? उस समय उन्हें तुरत शक्ति-केन्द्रों पर कब्जा करना होगा। ऐसा नहीं करेंगे और अपनी रक्षा के नये साधन शीघ्रता से नहीं पैदा कर सके तो वे अपना अस्तित्व खो देंगे। जो लोग अबतक शोषण की बदौलत पलते रहे हैं, वे एकदम चुप नहीं बैठ सकते। यदि संभव हुआ तो वे विदेशियों को भी अपनी सहायता के लिए ले आयेंगे। फ्रेंच-क्रांति के बाद फ्रांस के राजवंश और सरदारों की ओर से ब्रिटेन, जर्मनी, रूस और आस्ट्रिया, फ्रांस के शत्रु हो गये। हाल में रूसी क्रांति के बाद रूस को चार वर्षों

तक रूसी विद्रोहियों और उनके हिमायतियों का मुकाबिला करना पड़ा था। इसके अतिरिक्त देश के भीतर भी नए अधिकारियों को पग-पग पर पुराने स्वार्थों से लड़ना होगा। उनके हर काम में अड़चनें डाली जायँगी। हर प्रकार के ऐसे प्रयत्न किए जायँगे जिनसे उनके शासन की व्यवस्था बिगड़ जाय, उनके प्रयोग असफल हों, प्रजा उनसे असंतुष्ट हो। उनके साथ बात बात में असहयोग किया जायगा। ऐसी परिस्थिति में,

> "इन सब चेष्टाओं और विरोधों को बिना लौह-दंड से कुचले क्रांति सफल नहीं हो सकती। मानव-जाति की आजादी के लिए हमें निर्मम होकर यह करना होगा।" (लेनिन)

यह साफ है कि ऐसी हालत में समाज के दुश्मनों को आजादी नहीं दी जा सकती। बृहत मानव-समाज के लिये तो आजादी रहती है पर इसमें पुराने शोषक वर्ग को नहीं शामिल किया जा सकता। इसलिये राज्य-सत्ता रहती है पर उसका रूप बदल जाता है। पहले राज्य-सत्ता थोड़े से लोगों के फायदे के लिये काम करती है। अब विशाल मानव-समुदाय की ओर से इसके विरोधियों की छोटी तायदाद को कुचलना है। इसलिये इसका रूप कभी भी उतना भयंकर नहीं हो सकता।

उत्पत्ति के साधनों पर कब्जा कर, विरोधियों का दमन कर, नई सत्ता नयी व्यवस्था को बनाने में लग जाती है। फिर एक ऐसी अवस्था पैदा होती है जब इस दमन के लिये विशेष तन्त्र का प्रयोजन नहीं रहता। सशस्त्र जनसमाज का संगठन स्वयं यह काम कर लेता है। पुराने वर्ग का पूर्ण नाश हो जाता है। कुछ व्यक्ति गड़बड़ कर सकते हैं—पर उनके दमन के लिये राजतन्त्र की आवश्यकता नहीं। जैसे एक सभ्य समाज में दो झगड़ते हुए व्यक्तियों को लोग पकड़ लेते हैं, जनता स्वयं ऐसे बचे खुचे लोगों से समझ लेगी। जनता समाज की रक्षा के लिये उपर्युक्त व्यवहार की अभ्यस्त हो जायगी।

जनता सामाजिक व्यवस्था चलाना भी धीरे धीरे सीखती जाती है। सारे नागरिक समाज के श्रमजीवी बन जाते हैं। जब, स्वतः सामाजिक उत्पत्ति चलती रहती है, सामाजिक जीवन चलाने के साधारण कायदे लोगों के अभ्यास में दाखिल हो जाते हैं, साम्यवादी-समाज का पूर्ण विकास हो जाता है, उस समय राज्यसत्ता की क्या आवश्यकता है ? ऐंगेल्स के शब्दों में "राज मुरझा कर झड़ जाता है (Withers away)"। ऐंगेल्स ने कहा है—

"जैसे एक जमाने में युग की आवश्यकता को लेकर पैदा हुए वैसे ही ये मिट भी जायेंगे। जिस समाज में उत्पत्ति

का काम उत्पादकों के स्वेच्छा-संगठन से होता है—वहाँ स्टेट की क्या आवश्यकता ? प्राचीन युग के स्मारक जिन अजायब घरों में रक्खे जायेंगे, वहीं जमाना चर्खा और ताँबे की कुल्हारियों के साथ राज्यसत्ता को भी रखेगा।'

(लेनिन के आधार पर)

क्रांति और समाज

समाज परिवर्त्तन

समाज का आमूल परिवर्त्तन राज्य-सत्ता के परिवर्त्तन के बिना कभी पूर्ण नहीं होता। परन्तु राज्य-सत्ता का परिवर्त्तन ही सब कुछ है, ऐसा मानकर, सुधारवादी और क्रांतिकारी दोनों गलत रास्ते पर चले गये। इस भावना ने अप्रत्यक्ष रूप से, जिससे हम बचना चाहते थे, उसी ओर याने राज्य-पूजा की ओर ढकेल दिया। आम चुनाव या क्रांति की ओर ही क्या जनता को देखते रहना है! इस बीच में क्या हमें कुछ करना नहीं?

थोड़ा-सा गौर करने से ही पता चलेगा कि राज्य-सत्ता प्रतिकूल हो या अनुकूल, नये समाज का निर्माण अनवरत जारी रहने में ही हम लक्ष्य के निकट पहुँच सकते हैं। मान लें, राज्य-सत्ता प्रतिकूल है, ऐसी हालत में समाज परिवर्त्तन चाहने वाले क्या करें ! राज्य सत्ता को अनुकूल बनाने की तैयारी—चुनाव या क्रांति द्वारा—के अलावे क्या वे समाज के परिवर्त्तन का काम जारी नहीं रख सकते ? सम्पत्ति के अधिकार, राजनैतिक-अधिकार कोई स्थायी वस्तु नहीं। इनमें अन्तर बराबर होता रहना सभव है और आवश्यक।

इसी तरह मान लें, राज्य सत्ता अनुकूल है। चुनाव के द्वारा समाजवाद के मानने वाले किसी विधान सभा में मान लें, बहुमत में आ गये, उनका मन्त्रिमंडल बन गया, फिर क्रांतिकारी क्या करें ? क्या उनका काम रह जायगा मन्त्रि-मण्डल की ओर समाज-परिवर्त्तन के लिये देखते रहना ? यदि ऐसा वे करेंगे तो फिर उन्हें अपने को क्रांतिकारी कहने का हक नहीं रहेगा। यहीं विधानवादी और क्रांतिकारी का अन्तर पैदा होता है।

गांधी जी ने कांग्रेस के १९३६ के घोषणा पत्र में लिखवाया था :

"कांग्रेस इस बात को साफ कर देना चाहती है कि धारा सभाओं के जरिये स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती और गरीबी तथा बेकारी के सवाल भी पूरे तौर से उनके द्वारा हल नहीं हो सकते।"

राज्य पद्धति कितनी भी प्रजातन्त्रात्मक हो, देश में कितनी भी नागरिक स्वतन्त्रता हो, यदि समाज की आबोहवा अनुकूल नहीं, तो कानूनों के आश्रय से क्रांतिकारी परिवर्त्तन संभव नहीं। हाँ, इंगलैंड ऐसे देश में जहाँ की जमीन तैय्यार हो चुकी है, संभव है विधानवाद के द्वारा भी समाज नये-युग की ओर आगे बढ़ सके, परन्तु एशिया के किसी देश में यह मृग-मरीचिका छोड़ और कुछ नहीं।

राज्य वर्ग-राज्य होता है, इस नियम को अब तक कोई काट नहीं सका है। किसी धारा-सभा में कैसी पार्टी का बहुमत है, किस तरह के कानून बनते हैं, यह गौण प्रश्न है। पूंजीवादी समाज के नियम, व्यवस्था, कानून, पूंजीवादी समाज के अनुकूल ही रहते हैं, और इन कानूनों की मर्य्यादा की रक्षा का जिम्मा स्टेट का होता है। इसलिये राज्य वर्ग राज्य की शकल में ही रह सकता है। समाजवादी समाज बन जाय, तब वही धारा सभा, मंत्रि

महल, राज्य, पुराने शोषित वर्ग के हकों के रक्षक बन जाते हैं।

आचार्य नरेन्द्र देव जी ने अपनी पुस्तिका 'समाजवाद, क्रांति और कांग्रेस' में कहा है:—

"राज्य-शक्ति का उपयोग शोषित वर्गों को दबाने और सताने में किया जाता है और इसे ही शान्ति-रक्षा का सुन्दर नाम दिया जाता है। ऐसी शान्ति रक्षा से सारे समाज का लाभ कैसे हो सकता है ? तभी तो आज कल के राज्य को श्रेणी-मूलक राज्य, शासक वर्गों के श्रेणी हित-साधन का जरिया बताया गया है'

"आज के राज्य की मशीनरी श्रेणी समाज तथा श्रेणी शासन कायम रखने के लिये बनाई गई है। वह इसी काम में लाई जा सकती है। यह उम्मीद करना कि वह जनता के राज्य के काम भी आ सकेगी, बड़ी भारी गलती है।"

समाजवादी समाज का निर्माण, धारा सभा के बाहर, जितनी तेजी से जारी रहेगा, उतना ही मात्रा में राज्य व्यवस्था के

ध्वस की आवश्यकता कम पड़ती जायगी। इस काम में–परिवर्त्तन युग में—राज्य शक्ति बाधक न रहे इससे भी बड़ी सहायता होती है। इसलिये वोटों के द्वारा भी राज्य-शक्ति पर अधिकार करने का प्रयत्न छोड़ना, बचपन और मूर्खता है।

परन्तु एशियाई देशों में वोटों के द्वारा राज्य शक्ति अधिकृत करने पर भी यह साफ रहना चाहिये कि वे समाज परिवर्त्तन के आधार नहीं, सहायक बनकर ही रह सकते हैं।

स्वर्गीय सत्य मूर्त्ति जी ने तो आज से १४ वर्ष पहले ही कहा था कि प्रजातन्त्र के साथ सत्याग्रह को मिलाया नहीं जा सकता। श्री चक्रवर्ती राजागोपालाचारी ने भारतसरकार के गृह-मंत्री की हैसियत से दिल्ली पार्लामेन्ट में स्पष्ट कहा था कि सत्याग्रह को वे सहन नहीं करेंगे। इसी आधार पर उन्होंने कानून भी पेश किया। राज्य-सत्ता प्राप्त करने पर जन संघर्ष की आवश्यकता नहीं, इसी धारणा ने कांग्रेस को प्राणहीन बना दिया।

इसीलिये आचार्य्य नरेन्द्र देवजी ने उपर्युक्त पुस्तिका में कहा है :—

"चाहे जितना भी वक्त लगे कानून के रास्ते ही यह काम करना चाहिये, यह सिद्धान्त मान लेना तो प्रजातांत्रिक पद्धति का खून करना है

(जन संघर्ष ही—समाजवादी मंत्रि मंडल कायम होने के बाद भी भारत ऐसे देशों में—परिवर्त्तन के मुख्य आधार होंगे। जन संघर्ष—शान्तिमय तरीकों से होंगे या हथियारों के द्वारा यह परिस्थिति विशेष पर निर्भर करेगा। परन्तु राज्य कितना भी प्रजातन्त्रात्मक हो, ऐशियाई देशों में जहाँ की समाज व्यवस्था जकड़ी हुई है, औद्योगीकरण बहुत थोड़ा ही पाया है, समाज का परिवर्त्तन विधानवाद के आश्रय से असंभव है।

सामाजिक परिवर्त्तन की ज्वाला इस तरह तीव्र जलती रहे तभी उनके बीच में खड़ी समाजवादी सरकार भी नये समाज की ओर समाज को ले जा सकती है।

सांस्कृतिक परिवर्त्तन

कैसी भी राज्य व्यवस्था हो, विचार परिवर्त्तन, सांस्कृतिक परिवर्त्तन तो अनवरत चल ही सकता है। जात-पात, ऊँच-नीच का भेद समाज में बना ही रहे तो विधान सभा क्या करेगी ? यदि

रहे, पुराने विचारों और स्वभावों का बोझ बहुत ही दुखद और कठोर होता है। इन्हें दुनियाँ के कोई ऐक्ट या बिल नहीं बदल सकते। अनवरत इन विचारों पर चोट जारी रखने से ही यह संभव है।

इसी तरह महिला-जागृति का प्रश्न है। स्त्रियों को समान अधिकार न हो तो नया समाज किस जमीन पर खड़ा होगा; नागरिक स्वतंत्रता या वोट के अधिकार, कैसे इन प्रश्नों को हल करेंगे।

याद रहे, भारतीय गाँवों में जो उच्च-वर्ण का सामाजिक राज्य है, उसका मोह उनके दिल में आर्थिक अधिकार से कम नहीं। मानव समानता—सामाजिक बराबरी—ग्राम्य जीवन में भीषण सघर्ष के द्वारा ही कायम हो सकती है। यह सघर्ष शान्तिमय रह सकेगा यह भी कहना कठिन है। जैसे भी हो—सामाजिक बराबरी के सघर्ष को, क्रांतिकारी पार्टी को अपने कार्य्य-क्रम में प्रमुख स्थान देना ही होगा।

राजनैतिक परिवर्त्तन

इसी तरह राजनैतिक परिवर्त्तन भी केवल विधान सभाओं पर निर्भर नहीं करते। राजनीति एक व्यापक चीज है। इसका

विस्तार समाज के प्रत्येक अंग में है। एक साधारण चीज ले लें; पुलिस का व्यवहार कैसा हो ? एक परम्परा इसे निर्धारित किए हुए है। हम युग-अनुकूल नयी परम्परा को चला सकते हैं। गाँव में, दूसरे समूहों में सामूहिक अधिकार का सृजन और व्यवहार कर सकते हैं।

मजदूरों द्वारा उद्योग प्रबन्ध में हिस्सा लेने का माँग तीव्र करना, आम नागरिकों द्वारा म्युनिसिपल नीतियों पर प्रभाव डालना आदि जनता के राजनैतिक अधिकार का विस्तार करते हैं।

संगठित जनता, ग्राम पंचायतों की तरह संस्थाओं के द्वारा बहुत से राजनैतिक अधिकारों को ले ले सकती है और इस तरह राजनीति पर शोषित जनता के अधिकार का फैलाव बढ़ा सकती है।

आर्थिक परिवर्त्तन

सबसे बड़ा क्षेत्र है आर्थिक परिवर्तन का। कानून की परवा न कर जनता आर्थिक सम्बन्धों को बदलती रह सकती है और यही क्रांतिकारी पार्टी का सबसे बड़ा क्षेत्र होता है। जैसे जमीन पर अधिकार—स्वामित्व और जोत दोनो तरह—के क्षेत्र में कानूनों से बँधे रहने की कोई आवश्यकता नहीं। जो बँधते हैं

उनका रास्ता विधानवादी बन जाता है। बकास्त की लड़ाइयों में किसानों ने पिछले तीन वर्षों में ऐसे बहुत से अधिकार लिये और सरकार को उन्हें स्वीकार करने को मजबूर किया।

ऐसा ही जमीन के बटवारे का प्रश्न है। कोई भी विधान सभा इसे पूरा नहीं कर सकती। परन्तु गाँव-गाँव के गरीब किसान उठ पड़ें, जमीन दखल कर बाँट लें, तो सरकार कितना दमन कर पायगी? सरकार को ऐसी कार्रवाइयों पर कानून की मुहर लगा, अपनी इज्जत बचानी होगी। बँटवारे के बाद सहयोगी खेती समाजवाद की पृष्ठ-भूमि को तैयार करने के लिये उठ खड़ी हो सकती है।

इसी तरह बहुधन्धी सहयोग समितियाँ वितरण, बिक्री आदि के काम अपने हाथ में लेकर, बीच वाले तबके के मुनाफा को खतम कर सकती हैं।

आर्थिक परिवर्त्तन की धारा इतनी तेज की जा सकती है कि शोषक-वर्ग का नफा दिखावटी रह जाय और वे स्वयं ऊब कर जान छुड़ाना चाहें। असहयोग का प्रयोग इस काम में किया जा सकता है। शोषित-वर्ग के ऊपर इसकी जिम्मेदारी नहीं कि अपने

गले को जंजीर गढ़ने में वह सहायक बने।

समाज क्रांति की ओर

इस तरह समाज जब क्रांति की ओर खिंच जाता है, उसकी आबोहवा बदल जाती है, तो समाज-परिवर्तन की मांग, समाज रचना की पर्यायवाची हो जाती है। उस समय क्रांति पक जाती है और कोई भी कारण पाकर आग फूट पड़ती है, चिनगारियाँ फैल जाती हैं। राज्य-सत्ता अनुकूल हो तो, प्रतिकूल हो तो, समाज नये रास्ते पर चल पड़ता है।

हाँ, राज्य व्यवस्था अनुकूल हो तो यह काम आसान होता है। अनुकूल होने की हालत में भी ऐसे अवसर पर, राज्य-व्यवस्था के ढाँचे में परिवर्तन लाने की आवश्यकता रह ही जायगी। भारत में किसी जिले की शासन-व्यवस्था को ले लें। यह न तो प्रजातंत्रात्मक है, न जन-सत्ता वादी। इसके बीच डिक्टेटर की तरह कलक्टर बैठे हैं। जिसके समान शक्तिशाली अधिकारी शायद ही विश्व के किसी शासन-व्यवस्था में हो। इसे कायम रखकर स्टेट या समाजवादी मंत्रिमंडल प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद को नहीं ला सकता। हाँ, डिक्टेटरशिप के लिये मौजूदा-व्यवस्था, बहुत ही अनुकूल पृष्ठ-भूमि देती है।

समाज परिवर्त्तन और राज्यसत्ता को बदलने के काम एक साथ कदम में कदम मिला कर चलते हैं। राज्यसत्ता पर वैधानिक पद्धति से अधिकार करना सभव है, परन्तु समाज परिवर्तन का काम वैधानिक ढग से एशियाई देशों में पूरे तौर पर असंभव है। इसलिये भारतीय वातावरण में वैधानिकता को मध्य विन्दु बनाकर समाज परिवर्त्तन का कार्यक्रम बनाना सुधारवादी, क्रांति विरोधी है।

क्रांतिकारी पद्धति

वोट की लड़ाई

सबसे कठिन प्रश्न है—क्रांति की पद्धति क्या हो? इस बड़े प्रश्न पर आज दुनिया के समाजवादी सैकड़ों खेमों में बँटे हुए हैं। सिद्धान्त से ज्यादा यह प्रश्न व्यावहारिक है।

जनता की भलाई चाहने वाले, समाजवाद की भावना से प्रेम रखनेवाले बहुत से लोग आज दुनियां में ऐसे हैं जिनका कहना है कि राज्यसत्ता के नाश की आवश्यकता नहीं है, हर बालिग आदमी को वोट का अधिकार मिल जाय, प्रजातंत्र प्रणाली कायम

हो जाय, जनता में सच्चे प्रतिनिधि के चुनने की समझदारी आ जाय, इतने से ही इनके अनुसार काम पूरा हो जायगा। इनका कहना है कि जनता के ९० प्रतिशत गरीब होते हैं, उन्हें चुनने का अधिकार होता है, उन्हीं के प्रतिनिधियों की सलाह से राज्य का सारा कारोबार चलता है, फिर राज्य-शक्ति को उलटने का क्यों प्रयास किया जाय ? जनता के प्रतिनिधियों के द्वारा चलाये जाने वाले राज्य को उलटने की चेष्टा ? यह तो एक तरह से जनता से दुश्मनी करनी है। अगर एसेम्बली के सदस्य अच्छे कानून पास नहीं करते, तो जनता का दोष है वह ऐसे आदमियों को क्यों चुनती है ! हर देश के बड़े-बड़े वैधानिक, राजनैतिक दलों के नेताओं से आप यही सुनेंगे।

इस भ्रम ने, इस मिथ्या आशा ने क्रांतिकारी आन्दोलन को सब से ज्यादा नुकसान पहुँचाया है। क्रांति की तैयारी के बदले कार्यकर्त्ताओं और जनता की महान शक्ति वोटों की लड़ाई में बर्बाद हुई है।

जनता के तथाकथित प्रतिनिधि सैकड़ों वर्षों से अमेरिका, इंगलैंड और फ्रांस में राज करते हैं, फिर भी सारी दौलत मुट्ठी भर धनपतियों के हाथों में है। जमीन, कारखाने आदि सभी के मालिक

बड़े आदमी ही हैं। हिन्दोस्तान में भी वर्षों तक कांग्रेस की मिनिस्ट्री चालू रही और है। इनके जमाने में भी किसानों की कमाई का बड़ा हिस्सा जमींदारों के घर ही जाता रहा है। क्या आम जनता चाहती थी कि हम मालगुजारी दें ? फिर भी उन्हें सरकार के भय से देनी ही पड़ी। याद रहे, उस समय और आज सरकार के कर्णधार जनता के प्रतिनिधि—कांग्रेस के रहनुमा थे और हैं।

हर देश के पिछले १०० वर्ष के इतिहास से यह साफ मालूम होता है कि पार्लियामेंटों और असेम्बलियों की ओट में धनिकों का ही राज्य चलता रहा है, इन्हों के इशारे पर कानून बने हैं, इन्हीं की राय से शासन की नीति निर्धारित हुई है। मजबूर होने पर छोटे मोटे सुधार इन्होंने मंजूर किए हैं, पर कानून के द्वारा, प्रस्तावों से, समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन न कभी हुआ है और न होने की सम्भावना है।

संयोग से एक बार स्पेन की धारा-सभा में ऐसे लोगों का बहुमत हो गया जो कानून से धीरे धीरे समाजवाद लाना चाहते थे। नतीजा क्या हुआ ? विद्रोह ! अमन और कानून के हिमायती फ़ौजों ने सरकार के विरुद्ध बगावत का झंडा खड़ा किया और सारी दुनियां की आँखों के सामने स्पेन की प्रगतिशील प्रजातंत्रात्मक-

सरकार कुचल दी गई। सर सैमुएल होर और बाल्डविन भी, जो हमें रोज अमन-कानून के पाठ पढ़ाते रहे, कभी अपनी सरकार के विरुद्ध बगावत की तैयारी करने में व्यस्त थे। इन्होंने चोरी से अस्त्र शस्त्र इकट्ठे किये और सरकार को धमकी दी कि अगर पूरे आयर्लैंड की आजादी का बिल पास हो गया, तो ये उसका खुलो मुखालफत करेंगे।

कानून, अदालत, अमन-चैन की कीमत पूंजीपतियों के लिए तभी तक है जब तक कानून इनको सत्ता को कायम रखने में सहायता करता है। इससे ज्यादा नहीं। जमीन और कारखानों की मिल्कियत का फैसला पार्लियामेंटों और असेम्बलियों में नहो बल्कि क्रांति के समर में होगा।

प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली स्वतः कोई बुरी चीज नहीं। हर समाजवादी इसकी उपयोगिता को मानता है। हम इसे हटाना नहीं चाहते, इसकी कमो को दूर कर सच्ची प्रजा-व्यवस्था कायम करना चाहते हैं। बहुत दूर तक यह हमें राजनैतिक समानता देती है। पर इतने से ही काम पूरा नहीं होता। आर्थिक समता के बिना राजनीतिक-समता निकम्मी रह जाती है, जैसे बिना प्राण का देह या बिना कारतूस के बन्दूक।

एक साधारण उदाहरण ले लें। हम दो व्यक्तियों को बराबर तौलकर सेर सेर भर मिठाई दें। अगर उनमें एक बीमार है, और दूसरा तगड़ा, तो दोनों सेर मिठाई वह तगड़ा व्यक्ति ही खा जायगा। इसी तरह राजनातिक अधिकार के उपभोग की शक्ति यदि समान नहीं है, तो समान राजनातिक अधिकार भी निकम्मा रह जायगा। हर चुनाव में हम इसका तमाशा देखते हैं। दरभंगा महाराज को भी एक वोट और एक साधारण हलवाहे को भी एक वोट। दोनो को कागज पर बराबर वोट मिल गया। पर यह सामानता सिर्फ कागजी है। भूख, गरीबी और अशिक्षा, करोड़ों दुखियों के लिए इस वोट के अधिकार को अर्थहीन प्रवंचना-मात्र बना देती है।

कहते हैं, विलायत में पार्लियामेंट के मेम्बर होने के लिए मजदूर-दल के लोगों को औसतन प्रति मेम्बर पाच हजार पौंड (७५,००० रुपया) खर्च करना पड़ता है। नतीजा होता है कि मजदूर-दल को अपना पार्टी के नाम पर बहुत से धनिकों को नामजद करना पड़ता है। बिहार प्रान्त में ही असेम्बली के चुनाव में कांग्रेस के मेम्बरों को प्रति सीट औसतन पाच हजार रुपया खर्च करना पड़ा। भला किस गरीब का साहस होगा कि वह इसके निकट जाय! भूले-भटके कुछ लोग भले ही निकल जाँय, पर हर देश में जनता के प्रतिनिधि ज्यादातर धनी व्यक्ति या धनीवर्ग के हिमायती

ही होते रहे हैं। वोटों के माया-जाल से निकल कर चुनाव के महा समर में विजयी होना साधारण गरीब के लिये असम्भव ही है।

इसका अर्थ यह नहीं कि हम सदा इससे अलग ही रहें। क्रान्तिकारियों को भी इस मायाजाल में जाना ही पड़ेगा, कम से-कम, और कुछ नहीं तो जनता के तथाकथित हिमायतियों का पोल खोलने के लिये, क्रान्तिकारी विचारों के प्रचार के लिये, चुनाव के तूफान में अपनी बात जनता के सामने रखने के लिये। पर हमें यह बराबर याद रखना होगा कि असेम्बलियों के अन्दर का काम हमारी क्रांति का आधार नहीं है, प्रत्युत हमें तो सीधी चोट की लड़ाई से राज्य सत्ता को ध्वंस करना है।

षड्यन्त्रकारी गिरोह और सशस्त्र क्रांति

दुश्मन का नाश जब सामने से सम्भव नहीं होता तब छिपकर करते हैं। राजनीतिक सत्ता के लिये पुत्र ने पिता के विरुद्ध, भाई ने भाई के विरुद्ध, न जाने कितनी बार पिछले ५,००० वर्षों में, षड्यन्त्र किया है। समय-समय पर भिन्न भिन्न दलों ने ईश्वर की उपासना से लेकर शराब पीना तक, गुप्त रूप से सत्ताधारा, की आँखें बचाकर किया है। पर जनता की ओर से काम करने वालों में इस पद्धति के उपयोग का विस्तार यूरोप के देशों में सब से ज्यादा १९ वीं सदी के प्रथमार्द्ध में हुआ।

फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति यूरोपीय राज्य सत्ताओं की सैनिक शक्ति के नीचे कुचली जा चुकी थी—पर फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति की भावना साधारण जनता के हृदयों पर उसी तरह अपना प्रभाव जमाये बैठी थी। ममता, भाईचारा और स्वतन्त्रता के नारों का असर घटने के बदले विस्तृत ही हो रहा था। ऑस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री मेटरनिक ने इस बढ़ते हुए दुश्मन को देखा। उसने रूस, फ्रांस, जर्मनी, इंगलैंड, और ऑस्ट्रिया, इन पाँच महाशक्तियों से कहा—"सम्राटो ! सावधान ! छठी महाशक्ति अभी सुलग रही है, उसका जब तक नाश नहीं होता, किसी सम्राट का कल्याण नहीं है।' १८१५ की वायना की कांग्रेस के समय मेटरनिक के नेतृत्व में क्रान्ति की ज्वाला को बुझाने के लिये सभी सम्राटों का एक 'पवित्र-बंधन' कायम हुआ। उसने सिर्फ अपने ही देश में नहीं बल्कि सारे यूरोप से क्रान्ति के बीजों को खोज खोज कर उखाड़ फेंकने का बीड़ा उठाया। कंस ने जैसे कृष्ण के भय से ब्रज के सब बालकों को मरवा डाला, उसी तरह, मेटरनिक भी क्रान्तिकारी विचारों के अंकुरों को यूरोप से खोज-खोज कर ध्वंस करता रहा। युग प्रवाह ने उसका यह सारा प्रयत्न अन्त में निष्फल कर दिया। १८३२ में वायना का राजमहल क्रान्तिकारी लहरों से घिर गया, यूरोप का वह तानाशाह तरकारी की टोकरी में छिपकर चोर की तरह भाग निकला।

परन्तु इस समय गुप्त क्रांतिकारी पार्टियाँ की बुनियाद यूरोप के बहुत स प्रमुख देशों में पड़ गई। आजादी का भावना जनता के हृदय में लहरें ले रहा था, पर चारों ओर सरकार का नियन्त्रण उन्हें जकड़े था। आग सुलग सुलग कर अन्दर ही घु घुआ कर रह जाता थी। साधारण जनता अपने रोजमर्रे के जीवन कार्यों में व्यस्त रह इस ज्वाला को भूल सकती था, पर भावुक हृदय के लिये यह सभव नहीं था।

उन्हाने सरकारी आतक से जनता को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया। जान पर खेलकर मानवता की प्रतिष्टा और आजादी का भावना को प्रज्वलित रखा। इतिहास में इनके कार्यों का सब से श्रेष्ठ उदाहरण मैजिस्वनी का सिन-फिन दल और गैरीबाल्डी का राष्ट्रीय सेनायें हैं।

षडयन्त्र मे एक गुट का शासन हटाकर दूसरे गुट का शासन कायम किया जा सकता है पर सामाजिक क्राति नहीं। समाजवादी क्रांति का आधार यह पद्धति नहो हो सकती। गाव-गाँव में जमीन दखल करने का काम छोटे गिरोहों से सभव नहा। कारखानों पर कब्जा भी बम से नहीं हो सकता। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि सघर्ष का अन्तिम निर्णय फौज पर ही आश्रित

है। फौज के मिलाने का काम अब बैरिकेडों पर नहीं चल सकता। गाँव गाँव में जन-आन्दोलन को प्रज्वलित कर ही हम सैनिकों को अपनी ओर कर सकते हैं। इन कारणों से हमें समाज-वादी क्रांति के लिए अन्य पद्धति को प्रधान आधार बनाना है।

हिंसा-अहिंसा

"कांग्रेस-समाजवादी पार्टी एक क्रान्तिकारी पार्टी है। जहाँ तक उपायों का सवाल है, एक क्रांतिकारी पार्टी अहिंसा अथवा हिंसा के झगड़े में नहीं पड़ती। अगर अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये हिंसा अनिवार्य हो जाय तो एक क्रांतिकारी पार्टी उसके लिये सलाह देने को तैयार रहती है।'

(आचार्य्य नरेन्द्रदेव—समाजवाद क्रांति और कांग्रेस)

कुछ लोगों का कहना है कि हवाई-जहाज और मेशीनगन के इस युग में सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा बेकार है। सरकार के पास जितने साधन हैं, उनका मोकाबिला बम और पिस्तौल से नहीं हो सकता! इस कथन में कोई सार नहीं। सिर्फ इतना ही सही है कि सरकार के पास आतंक पैदा करने की शक्ति बहुत ज्यादा हो गई है और यह भी सही है कि सरकारी ताकतों को खुली लड़ाई में क्रान्तिकारी बम और पिस्तौल

से शिकस्त नहीं दे सकते। पर यह कोई वर्त्तमान युग के शस्त्रों का खूबी नहीं है। हर युग में सरकार की सैनिक-शक्ति क्रान्तिकारियों की शक्ति से ज्यादा ताकतवर रही है। क्रान्तिकारियों ने अपनी शक्ति से सरकारी फौज को शिकस्त दी हो, इसका एक भी उदाहरण इतिहास में नहीं है। यह न कभी सभव हुआ है, न आगे हो सकेगा। ऐंगल्स ने कहा था—"पहले भी बैरिकेडों पर खड़े होकर लड़ने वाले क्रान्तिकारियों का प्रधान कार्य फौज को हराना नहीं था, बल्कि उनको अपनी तरफ आने को राजी करना था। बैरीकेडों पर ज्यादातर व्याख्यानबाजी होती थी और नारे लगते थे।"

हर सफल क्रांति में फौज का टुकड़ा क्रांतिकारियों से आ मिला है। इस युग की सैनिक-शक्ति के विकास का फायदा और नुकसान दोनों पक्ष के लिए एक से हैं। जैसे सरकार हवाई बम बाजी से हमारे केन्द्र को ध्वस कर सकती है, हम भी यदि एक पाइलट (विमान चालक) को भी मिला लें तो राजभवन को ध्वस कर सकते हैं। दक्षिणी अमेरिका के देशों में आये दिन राज्यसत्ता के उलट फेर होते रहते हैं। दोनो तरफ से हवाई बम बाजों और मेशीनगनों का इस्तेमाल होता है। वायना में क्रान्तिकारियों ने रेडियो से पूरा फायदा उठाया। वर्त्तमान महायुद्ध में भी जर्मनी की प्रचंड सैनिक-शक्ति का मुकाबला आखिर युगोस्लाविया और

फ्रांस के विद्रोहियों ने किया था है।

हमें यह बराबर याद रखना चाहिये कि क्रान्तिकारियों ने स्वयं कभी अस्त्र शस्त्रों को तैयार नहीं किया। दुश्मन से छीने हुए शस्त्रास्त्रों पर ही बराबर उनका भरोसा रहा है। छोटी छोटी ऐसी मशीनगनों का आविष्कार हो चुका है जिनका प्रयोग आसानी से क्रान्तिकारी कर सकते हैं।

हिन्दोस्तान में क्रान्तिकारी-पद्धति के साथ नैतिक प्रश्न के मिल जाने से यह समस्या और भी पेचीदा हो गई है। हिंसा बुरी चीज है, अहिंसा अच्छी; इसे कोई इन्कार नहीं कर सकता। पर हर अच्छी और बुरी चीज की एक सीमा होती है। कार्बन एक खास मात्रा में जीवन का आधार है, उससे ज्यादा होने पर वह प्राण-नाशक बन जाता है। दूध एक अच्छी चीज है पर मात्रा ज्यादा होने से बदहजमी पैदा कर देता है। ऐसा कोई सत्य ही संसार में नहीं जो सर्वकाल में, सब देश में, सब मात्रा में-एकसा उपयोगी हो। सत्य और असत्य, हिंसा और अहिंसा के निरन्तर होने वाले संघर्षों पर ही समाज का विकास अवलंबित है। किसी भी अच्छी चीज को हम तर्क की चोटी पर पहुँचाकर निरर्थक बना दे सकते हैं। अहिंसा ही से लीजिए। इन्सान को नहीं मारना, पशु

को नहीं मारना; आगे चलिए, पौधों का नाश नही करना ! परिणाम—मानव-जाति का नाश है।

स्वयं अहिंसावादियों ने भी पहले १० वर्षों में दो बड़े अहम मौकों पर राजनीतिक क्षेत्र में भी अहिंसा का आदर्श छोड़ दिया। पहले तो, कांग्रेस की वजारत कबूल करने के बाद, राज्यसत्ता के आसन पर बैठ कर संसार के सबसे भयंकर हिंसातंत्र का इन्होंने उपयोग किया। यह नहीं कि ऐसा इन्होंने अधिकार की अपूर्णता के कारण किया हो वरन आजाद भारत में भी ये ऐसा ही करते हैं। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" की तरह इन्होंने ऐसी मान्यता कर ली है कि स्टेट को हिंसा करने का हक है। यह सबसे खतरनाक चीज है क्योंकि धनपतियों की सत्ता स्टेट ही के बल पर कायम है। इसका अर्थ है धनपतियों की सत्ता का अजर अमर रहना। यदि अहिंसा के आधार पर स्टेट चलाये जाने का विचार कोई समाज के सामने रखे तो खुशी के साथ समाजवादी इसे मानेंगे। यही नहीं, उन्हें यह घोषणा करने में भी कोई एतराज न होगा कि हमें अब क्रांति की तैयारी की कोई आवश्यकता नहीं है। समाज के विकास के साथ-साथ समाज के संगठन में भी साधारण या क्रांतिकारी—परिवर्त्तन आप से आप होते रहेंगे क्योंकि उन्हें पशुबल से रोकने वाली कोई शक्ति नहीं रहेगी।

हाकि दृष्टि से, जिसे यह मार्ग पसंद न हो, वह भले ही अन्य मार्ग को अपनाए, पर नीति अनीति का अब प्रश्न उठाना सिर्फ प्रवचना है।

आध्यात्मिक दृष्टि से यूरोप के निःशस्त्र विरोध (Passive resistance) और सत्याग्रह में गाँधी जी ने अन्तर माना है। अहिंसात्मक सत्याग्रह के पीछे सत्य और प्रेम का बल है, ऐसा मानकर उन्होंने इसे निःशस्त्र विरोध (Passive resistance) से श्रेष्ठ माना है। कसौटी पर यह भी खरा नहीं उतरता। पिछले दिनों हम अंग्रेजों के प्रति प्रेम की भावना रखकर असहयोग में प्रवृत्त होते रहे हैं, ऐसा कहना असत्य छोड़ और कुछ नहीं है। हमारा प्रोग्राम भी ऐसा नहीं रहा है, जो जिसे प्रेम करता है वह उसके लिए सर्वस्व बलिदान करता है, प्रेम की महानता इसी में है। हमने क्या कभी कहा !—"अंगरेजों तुम ४० करोड़ हर साल ले जाते हो, भला इससे तुम्हारा किस तरह काम चल सकता है ? १०० करोड़ और ले जाओ !' नहीं, उल्टे हमने कहा, हम तुम्हारा कपड़ा नहीं खरीदेंगे, तुम्हारा राज्य हिन्दुस्तान में नहीं चलने देंगे ! जब उनकी छाती पर हिटलर सवार था, उनका प्यारा शहर लन्दन ध्वस्त हो रहा था, उनकी फौज हिटलर की मार से टती जा रही थी, हमने कहा—"इस युद्ध में एक पाई और एक

भाई देना हराम है।" वाह रे, आप का प्रेम ! प्रेम का प्रभाव हृदय पर पड़ता है, पर आप यदि समझें कि हम वायकाट, करबन्दी और युद्ध का विरोध कर दुश्मन का हृदय जीत लेंगे, तो धन्य हैं आप, और धन्य है आप की बुद्धि !

सुप्त मानवता को जगाने के लिये छोटे छोटे स्वार्थों ने देशवासियों को ऊपर उठाने के लिये आत्म-बलिदान कारगर होता है। हर देश के जेलों में क्रांतिकारियों ने अनशन कर प्राणों की आहुति दी है। टेरेन्स मैक्स्विनी ने उपवास कर संसार के विचार जगत में कम्पन पैदा कर दिया था। हर तरह से [illegible] [illegible] का संचय करना क्रान्तिकारी के लिये आवश्यक है।

अपने साथियों पर ही कीचड़ उछालने । अपने विरोधी का चरित्र, धन, प्रतिष्ठा, किसी को अहिंसावादियों ने साबित नहीं रहने दिया। हाँ, गला नहीं काटा । चरित्र, प्रतिष्ठा, शक्ति, इन सबसे बड़ी चीज शरीर हो गई । पद के लिये मिथ्या प्रचार, फरेब, घूस, मार-पीट, किसी भी तरीके को कांग्रेस के चुनावों में अग्राह्य नहीं माना गया । लाठी के हाथ, गाँधीवादी राजनीतिक दलों की सत्ता कायम रखनी चाहिए, यह विचार दल के बहुत से लोग मानते रहे ।

यह सही है कि व्यक्तियों की कमी से आदर्श अपवित्र नहीं होता । पर उस आदर्श की क्या कीमत जिस पर ९९ फी सदी लोग अमल ही नहीं कर सकते ? पहले कहा जा चुका है कि सरकार के आतंक का मनोवैज्ञानिक आधार जनता का प्राण और धन का मोह है ! यदि जनता प्राण और धन का मोह छोड़ कर सरकार से असहयोग कर दे तो कागज पर यह साबित करना असम्भव नहीं कि सरकार टूट जायगी । पर जनता का प्राण और धन का मोह तो एक बड़ा सत्य है । इसे छोड़ना साधारणतया सम्भव नहीं।

पर, प्राण और धन का मोह छोड़ने में, साहस में, वीरता में, क्या अहिंसावादियों का आदर्श ऊँचा है ? अत्यन्त कष्ट के साथ कहना पड़ता है कि सबसे ज्यादा निराशा यहीं हुई और यही मूल

आधार था। चीन में पिछले ८ वर्षों में पाच लाख से ऊपर व्यक्ति लड़ते हुए समर भूमि में अपने प्राणों की आहुति दे चुके। सारा यूरोप मृत्यु की छाया में वर्षों रहा है। कल हमारी पत्नी-पति, पिता पुत्र जीवित मिलेंगे या नहीं इसे यूरोप के देशों में कौन निश्चयपूर्वक कह सकता था ? फिर भी उनका साहस और धीरज अचल है। दुनिया की इन कौमो में हम किस बल पर खड़े होंगे ? हमने अपने देश की आजादी के लिए भी जो त्याग किया है, वह अन्य कौमों की तुलना में नगण्य है।

इसका यह अर्थ नहीं कि पिछले दिनो हम जो अहिंसात्मक आन्दोलन करते रहे, वह सारा का सारा व्यर्थ रहा। देश की सोई हुई जनता को जगाने में इसने बहुत बड़ा काम किया है। जन-आन्दोलन के लिये बहुत सा नया सबक हमने सीखा है। यह भी हमें याद रखना चाहिए कि जन-आन्दोलन का रोजमर्रे का काम शान्तिमय आधारों पर ही चल सकता है। बम और पिस्तौल से कारखानों मे हड़तालें नहीं चलाई जातीं। किसानों की आये-दिन की लड़ाइयां भी लाठी के जोर से नहीं चल सकतीं। गाँधी जी के आन्दोलनों की प्रणाली को हम यदि पूरा-पूरा रद्दी की टोकरी मे फेंक कर आगे बढ़ना चाहें, तो वह भी भूल ही होगी। पर हमें यह सदा याद रखना चाहिये कि एक देश में, एक काल में जो उप-

योगी साबित हुआ, वह चिरकाल में उपयोगी रहेगा, यह भावना प्रगति विरोधी है, यह जड़ता है, और जब इसका हृदयों पर अधिकार हो जाता है तो समाज का विकास रुक जाता है। रूढ़ियों और मृत आधारों की जंजीर में बँध नर प्राण सूखने लगता है। इसलिए महाकवि टेनिसन ने कहा था—

> 'पुरानी बातों की जड़ खोदो'
> नहीं तो कोई, भली प्रथा,
> सारे ससार को दूषित कर देगी !

इसलिए हमें *हिंसा और अहिंसा* के नैतिक झगड़े में नहीं पड़ना है। क्रान्ति को सफल करना समाज की सबसे बड़ी नैतिक आवश्यकता है। इसे हम किस तरह पूरा कर सकते हैं, इसी पर गौर करना है। सिद्धान्तों पर बहस बेकार है, सवाल है—व्यवहार का, समाज को आमूल बदलने का।

जन-आन्दोलन और आम हड़ताल

समाजवादी क्रान्ति का मुख्य आधार जन संघर्ष ही हो सकता है। विशाल जन समूह को क्रान्ति के समर में उतारना होगा। इस युग में क्रान्ति साधारण चीज नहीं रही। क्रान्ति के सूत्रधारों को वैज्ञानिक-पद्धति से इस पर विचार करना

होगा। समाज के सभी गिरोह परिवर्तन नहीं चाहते। साफ है कि पूँजीपति, जमींदार, विदेशी व्यापारी और उनके ऊपर आश्रित वर्ग समाजवाद का विरोध करने में अपनी पूरी शक्ति लगा देंगे। इसी तरह परिवर्तन के पक्षपाती मजदूर, किसान, भावुक नौजवान और कुछ बुद्धि-जीवी लोग ही होंगे। समाजवाद के पक्ष के लोगों के मजदूर-सभा, किसान सभा आदि जन संस्थाओं में जन-सङ्गठन करके ही उनकी शक्ति का सञ्चय और विकास किया जा सकता है।

इस युग की पैदावार प्रणाली ने इनके हाथों में जबर्दस्त शक्ति दे दी है। राष्ट्रों की ज्यादातर पैदावार आज कल कारखानों में होती है। मजदूर बैठे रहें; तो सारे कल-कारखाने बन्द हो जायें, सारा कारोबार रुक जाय। कारखाने चलाने के लिये कोयला चाहिये। यदि कोयले से सम्बन्धित मजदूरों ने हड़ताल कर दी तो सारे कल कारखाने बन्द हो जायेंगे। खानों से कोयला रेलगाड़ी पर लाद कर कारखानों में पहुँचाया जाता है। रेल के मजदूर हड़-ताल कर दें तो भी कारखाने बन्द हो जायें। इस तरह देखेंगे तो आप को पता लगेगा कि देश का सारा कारोबार एक दूसरे से बँधा है। रेल बन्द हो जाय तो दो सप्ताह में कलकत्ता शहर भूखों मरने लगे। बड़ी से बड़ी ताकत को जनता की इस शक्ति के

सामने सर झुकाना पड़ेगा ।

१९२२ की मार्च में जर्मनी में यही हुआ । जेनरल कुप ने बर्लिन पर फौजी हमला किया, वहाँ की 'शोशल डेमोक्रेटिक' सरकार भाग गई । सरकार की फौज ने हथियार डाल दिये ।इस समय वहा के मजदूरों ने आम हड़ताल की घोषणा कर दी । ट्रामें रुक गयीं, रेलगाड़ियों का आना जाना बन्द हो गया, होटलों पर ताले पड़ गये, अफसरों के ड्राइवर गायब, काम करने वाले नौकर ला पता । जेनरल कुप की फौज और हथियार यों ही रखे रह गये और उन्हे मजदूरों से सुलह की दर्खास्त करनी पड़ी ।

इस युग ने 'आम हड़ताल' की शक्ल में एक बड़ी शक्ति मजदूरों के हाथों में दी है । इसीलिये सरकार इससे इतना घबड़ाती है । सर साइमन की सलाह पर बृटेन की प्रजातन्त्रात्मक सरकार को १९२८ की शान्तिपूर्ण आम हड़ताल को गैर कानूनी घोषित करना पड़ा था । सिंडिकैलिष्ट तो इसी को एकमात्र क्रान्तिकारी पद्धति मानते हैं । पर आम हड़ताल की उपयोगिता को किसी सच्चे समाजवादी ने कभी इन्कार नहीं किया ।

१९०५ की रूसी-क्रान्ति का भी आधार यही था, और १९१७ की दोनों क्रान्तियों के पीछे भी मजदूरों की प्रचंड शक्ति थी। आचार्य कृपलानी का कहना है कि गांधी जी के असहयोग के सिद्धान्त के पीछे भी आम हड़ताल की धारणा है।

आम हड़ताल को कुचलने के लिये सरकार कोई कोशिश उठा नहीं रक्खेगी। सरकार अपनी सारी शक्ति को कारखानों और रेल गाड़ियों को चालू करने में लगा देगी। इसी समय किसानों को भी शामिल होना है। उन्हें जमींदारों की जमीन और महल दखल कर लेने हैं। कर देना बंद कर देना है! सरकार की फौज के जाने-आने के रास्तों को काट देना है; रेल की लाइनों को तोड़ देना है और आगे बढ़कर सरकारी थानों को दखल कर शासन के नये केन्द्रों को स्थापित करना है।

शहर के विद्यार्थियों और क्रान्तिकारियों को भी मैदान में उतर कर जनता का पथ प्रदर्शन करना है, शहरों के सरकारी केन्द्रों को दखल करना है, और जनता का उत्साह, प्रचार और कार्य्य से बनाए रखना है।

इसी समय, जो सरकारी अफसर तैयार हों, उन्हें स
का साथ छोड़ देना चाहिए।

इस तरह की पूर्ण हड़ताल चंद हफ्तों में सरकार के
तन्त्र को बिखरा कर उसे ध्वस्त कर द सकती है। किसान जमी
मजदूर कारखानों के मालिक बन जायँगे! देश में नई स
कायम हो जायगा।

श्री जयप्रकाश नारायण ने—पिछले महाने प्रकाशित अ
पुस्तिका 'मार्क्सवाद' में कहा है,

"मान लीजिये क्रांति करनी है तो सोशलिस्ट पार्टी
नारा देगी? एक देश व्यापी आम हड़ताल हो। रेलों
चलना बंद हो जाय। कारखानों पर कब्जा हो। हथियार ब
वाले करखानों पर कब्जा हो। हथियार बनें, अपना सेना ब

पर इसके लिये किसानों और मजदूरों का जबर्दस्त स
होना चाहिए। उनपर क्रांतिकारी नेतृत्व का प्रभाव होना चा
और उनका अपना विश्वास भी राजनैतिक संघर्ष पर अचल
चाहिये। हड़ताल में भूखों मरने की भी नौबत आती है।

बड़े पैमाने वाली हड़ताल में कोई संस्था सब को खिलाने-पिलाने का उचित प्रबन्ध पहले से नहीं कर सकती। उनका अपना उत्साह, मर-मिटने की आन ही उन्हें इस कठिन समय में अपने सिद्धान्त पर अचल रख सकती है।

इसीलिए समाजवादी क्रांति में किसान-मजदूर संगठन का इतना बड़ा स्थान है। इनका संगठन और उनमें क्रांतिकारी भावना के प्रचार का समाजवादी क्रांति की तैयारी के प्रोग्राम में पहला स्थान है। सशस्त्र क्रांति की तैयारी करने वालों से कम ऊँचा स्थान ऐसे कार्य कर्त्ताओं का नहीं है। जन-आंदोलन से अलग गुप्त सशस्त्र-क्रांतिकारी दल का कार्य समाजवादी क्रांति की दृष्टि से बेकार ही नहीं, हानिप्रद भी हो सकता है। यह पहिले ही कहा जा चुका है। जन-आंदोलन या जन संघर्ष ही वह धुरी है जिस पर सारी समाजवादी क्रांति की तैयारी चक्कर काटती है।

जन-संघर्ष और आम हड़ताल की कमजोरियां

आम हड़ताल या पूर्ण असहयोग क्रांतिकारियों के हाथ में बहुत बड़ा अस्त्र है। आम हड़ताल यदि सफल हो जाय और कुछ हफ्तों तक ही जारी रहे तो भी निश्चय है कि राज्य-सत्ता का नाश हो जायगा, पर यहाँ भी एक बड़ी कठिनाई है। आम-हड़ताल चंद

दिनों में ही टूटती देखी गई है। सरकार इसे कुचलने के लिए पूरी शक्ति लगा देती है। सरकार के भयंकर आतंक के सामने निहत्थी जनता ठहरती नहीं।

निहत्थी जनता का आम हड़ताल के लिए आह्वान करना कसाई के सामने पशुओं को झोंकने के समान है। इसी को लक्ष्य कर मार्क्स ने १८४९ में कहा था:—

"आम हड़ताल का अर्थ है सरकार की सत्ता को ही चैलेंज। फिर उनसे दया की आशा क्यों? सब से भयंकर अवस्था तो तब होती है जब हम पहले से ही घोषणा कर दुश्मन को जाहिर कर देते हैं कि हमने अस्त्र नहीं उठाने का फैसला कर लिया है। यानी, उसे निमन्त्रण देते हैं; "आओ, तुम मारो!" दो-चार उच्च कोटि के दार्शनिक भले ही शान्तिपूर्वक ईश्वर का स्मरण करते हुए अपने जीवन का बलिदान कर दें, साधारण मजदूर-किसान से यह सम्भव नहीं। मजदूर-किसान भी अपने जीवन का बलिदान कर देते हैं, पर संघर्ष की गर्मी में और 'लड़ते-लड़ते हम', मरेंगे पर दुश्मन को मारकर इस विचार की आग में जीवन को वे भूल जाते हैं।"

साधारणतया हजारों-हजार हड़ताली मजदूरों के बीच में फौज या पुलिस की छोटी टुकड़ियाँ भय से कभी नहीं जायँगी। हड़तालियों को सम्भव है, अस्त्र न भी लेना पड़े, पर यदि हम पहिले से अहिंसा की घोषणा कर देंगे तो ५-संगीनधारी भी हड़तालियों की बड़ी जमात में घुस कर उन्हें भगा देने में समर्थ हो जायेंगे। इसका नतीजा होगा हड़ताल का समय से पहले टूट जाना। यह पहले कहा जा चुका है कि क्रान्ति की सफलता के लिए आम हड़ताल का कुछ सप्ताह जारी रखना आवश्यक है।

यह सही है कि कितनी भी तैयारी हम करें; फौज का मुकाबला हम नहीं कर सकते। फौज के सामने हड़तालियों को झुकना ही पड़ेगा। इसलिये अन्तिम निर्णय फौज की वफादारी के परिवर्त्तन से ही होगा और यदि फौज के हिस्से न मिले तो परिणाम आम हड़ताल और सशस्त्र तैयारी के बावजूद क्रांति के विरुद्ध होगा।

यह पहले कहा जा चुका है कि फौज में प्रचार-कार्य वर्षों पहिले से जारी रहना चाहिए। फिर भी, फौज की टुकड़ियों के पक्ष-परिवर्त्तन के लिए आम हड़ताल का कई सप्ताह जारी रहना आवश्यक है। वातावरण में क्रांतिकारी आग जब हफ्तों तक जलती

रहती है, तब कहीं फौज प्रभावित होती है। पहले तो वे गोली चलायेंगे किन्तु जब देखेंगे कि जनता डटी हुई है, तो उनके हृदय में दुविधा पैदा होगी। फिर भी, वे गोली चलायेंगे, किन्तु देखेंगे कि देश में आम हड़ताल तो जारी ही है, इस समय उनमें से एक दो टुकड़ियाँ जनता से मिल जायेंगी, और ऐसा होते ही जनता के जोश में ज्वार आ जायगा। फिर तो महामारी की तरह टुकड़ियाँ जनता से मिलने लगेंगी।

याद रहे, क्रांतिकारी आक्रमण उस समय करना चाहिये जब सरकार का प्रभाव गिर रहा हो। सरकार टूट सकती है, इसकी संभावना वातावरण में होनी चाहिये। तभी फौज का दिल दूसरी सत्ता की ओर झुकेगा। फौजवाले किसान-मजदूर-वर्ग के होते हैं, इसलिए उनका झुकाव स्वतः उस ओर रहता है। पर वर्त्तमान सत्ता के टूटने की सम्भवना है, और किसान-मजदूर अपना राज्य कायम करने के लिये जी जान लगा देंगे, यह ख्याल फौज के दिल में उठाना चाहिये। इसीलिये आम हड़ताल का कई सप्ताह जारी रहना आवश्यक है।

ऐसे क्रांतिकारी संघर्षों के समय सरकार-पक्षीय जनता के लोगों से सबसे ज्यादा खतरा रहता है। वे हमारे बीच में रहते हैं,

हमारी कमजोरी, ताकत और प्लैन सब कुछ जानते रहते हैं। उन्हें काबू में रखना नितान्त आवश्यक है। किसी भी अन्य देश में जनविरोधी दलाल नि.शंक होकर नहीं घूम सकते। गाधी जी के आन्दोलनों में सबसे बड़ी कमजोरी यही रही है। हंगरी में जब राष्ट्रीय नेताओं ने असेम्बली के बायकाट की घोषणा की तो एक भी व्यक्ति पोलिंगबूथों पर नहीं गया यद्यपि लड़ाई निःशस्त्र चली, पर सरकारी दलाल जनता का क्षोभ जानते थे, पहिचानते थे उसके परिणाम को। हमारे देश में ऐसी परिस्थिति में सरकारी दलाल नि.शंक होकर अपना काम करते रहे। करबंदी के समय लोग खुले आम किसानों की जमीन खरीदते रहे।

याद रहे, फौज में खुले आम जन-आन्दोलन की पद्धति से काम नहीं हो सकता।

उपर्युक्त प्रबन्धों के बिना केवल आम हड़ताल या देशव्यापी सर्वाङ्ग असहयोग की पद्धति से क्राति कभी सफल नहीं हो सकती।
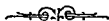
भारतीय क्रांति के मौलिक प्रश्न १

. . . . शिक्षा

क्रांति का मुख्य प्रश्न व्यवहार का है, सिद्धान्त का नहीं। लेनिन ने ही कहा है,

"इस युग मे विद्यार्थी मार्क्स में दिलचस्पी लेने लगे थे। परन्तु वे सिद्धान्त से ज्यादा यह जानना चाहते थे कि—"क्या करना चाहिये।"—

क्रांतिकारी कार्य्य का पथ निर्धारण जितना ही कठिन है, अफसोस है कि लोगों ने उसे उतना ही आसान समझ लिया है। टेबुल बनाना सीखना हो तो दो या तीन वर्ष की ट्रेनिंग लेने की

जरूरत है, पर देश निर्माण कार्य में, लोग समझ बैठे हैं, ट्रेनिंग की कोई आवश्यकता नहीं। लेनिन ने १९०२ में कहा था

"व्यावहारिक शिक्षा की कमी, संस्था चलाने की योग्यता का अभाव, हम सब में रहा है, उनमें भी जो शुरू से ही क्रांतिकारी मार्क्सवाद में विश्वास रखते रहे हैं।"

इसी का नतीजा होता है हमारे ज्यादातर काम नौसिखुओं की तरह होते हैं। केवल अग्रगामी कहने से या उसका प्रोग्राम बनाने से काम नहीं चलता। अपनी योग्यता, कार्यकर्त्ताओं की योग्यता बढ़ाने की जरूरत है। तभी उत्साह और प्रेरणा किसी लम्बे अर्से तक कायम रक्खी जा सकती है और संस्था संघर्षों का सिलसिला, दृढ़ता और जोश को बनाये रख सकती है। ऐसा नहीं होने का नतीजा होता है कि कहीं पथ निर्धारण बिना, कहीं रुपये बिना, कहीं उत्साह बिना काम बन्द होते रहते हैं और धीरे धीरे जनता भाग्य भरोसे जीने की भावना में लौट जाती है। १९०२ में लेनिन ने कहा था,

"एक तो जनता इसकी आवश्यकता बराबर स्पष्टतया नहीं समझती कि उनका काम निरी भावुकता से नहीं चल सकता,

इसके लिये ट्रेनिंग पाये हुए पेशेवर क्रांतिकारी चाहियें, दूसरे हम भी अपने व्यवहार में इस भावना को जागृत करने के बदले कमजोर कर देते हैं।'

'"इस आवश्यकता की मांग तो बहुत नीचे गिर गई है। इसके चलते सबसे बड़ा पाप हमने यही किया है कि हमने क्रान्तिकारियों की प्रतिष्ठा गिरा दी है। वह व्यक्ति जो सैद्धान्तिक प्रश्नों पर कमजोर है, जो दूर तक देख नहीं पाता, जो अपनी सुस्ती और अकर्मण्यता को जनता के सर पर लादता है, जो बड़ा और साहसिक प्लैन देकर विरोधियों की भी श्रद्धा को नहीं खींच सकता, जो अपने हुनर में अनुभवहीन और फूहड़ है, वह क्रान्तिकारी नहीं—निकम्मा नौसिखुआ है।

'कोई कार्यशील कार्यकर्ता मेरी आलोचना से नाराज न हो! जहाँ तक ट्रेनिंग के अभाव का प्रश्न है, वह सबसे ज्यादा मुझ पर लागू है। जिस जमात में मैं काम करता था, वह जमात अपने लिये बड़े शानदार कार्यक्रम बनाया करती थी। परन्तु हम सभी व्यथित होते थे जब देखते कि कुछ कर नहीं पाते थे। यह भी ऐसे समय में जब परिस्थिति पुकार कर कहती थी—'क्रान्तिकारियों का सच्चा संगठन हो तो हम रूस को उलट

देंगे ! उस समय की पीड़ा और शर्म जितनी ही मुझे याद आता है, उतना ही मुझे ऐसे निकम्मे क्रांतिकारियों पर गुस्सा आता है जो क्रांति की कला को नौसिखुओं और फुहरों के दर्जे में लाकर गिरा देते हैं।'

इसलिये पहले हम पिछले अनुभवों पर गौर करें, फिर परिस्थिति का अध्ययन कर निश्चय करें कि किस रास्ते से भारतीय क्रांति को ले जाना चाहिये।

पिछले अनुभवों में सबसे बड़ा स्थान १९४२ की अगस्त क्रांति का है।

अगस्त-क्रांति

अगस्त की क्रांति का केवल भारत के इतिहास में ही नहीं बल्कि विश्व-क्रांति के इतिहास में बहुत बड़ा स्थान है। इसने क्रांति की सफलता में विश्वास को अत्यन्त दृढ़ कर दिया। संसार की सबसे बड़ा शक्तिशाली राज्य सत्ता को निःशस्त्र जनता ने देश के बड़े भूभाग से देखते देखते उखाड़ फेंका—सिर्फ संख्या के बल से। संसार की किसी भी बड़ी क्रांति में इतनी बड़ी जनता शामिल हुई है या नहीं यह कहना कठिन है। सरकार के पैर उखड़ गए। बहुत

सी जगहों में कितने सप्ताह तक अंगरेजी सरकार का नामोनिशान भी नहीं रहा। कितने थाने, अदालत, स्टेशन, पोस्ट ऑफिस, खजाने और कैदखाने जनता के हाथों में आ गए।

क्रांति की सफलता के लिए तीन शर्तों का पूरा होना आवश्यक है :—

(१) आक्रमण के समय दुश्मन कमजोर हो।

(२) क्रांति की पुकार देनेवालों पर जनता का विश्वास हो।

(३) क्रांति के पीछे एक पूर्ण सुसंगठित क्रांतिकारी दल हो।

इनमें पहला दो शर्तें ही पूरी हुई। इतने से ही जो कार्य्य हुआ वह भारत के इतिहास के लिये गौरव की वस्तु है। हिन्दुस्तान इतनी दूर तक आगे बढ़ गया कि अब इसे कोई ८ अगस्त १९४२ के पीछे नहीं ले जा सकता।

जैसे इससे हमें नया बल मिला, उसी तरह इस क्रांति में हमने अपनी कमजोरियों को भी साफ-साफ देखा। इतनी बड़ी जनता के क्रांति-समर में उतरने के बावजूद सरकार कायम रह गयी। उसे फिर से हिन्दुस्तान को जीतने का मौका मिला। यदि

हम इस क्रांति की सफलता और असफलता दोनों अच्छी तरह समझ लें, तो हमारा आगे का मार्ग स्पष्ट हो जायगा ।

अगस्त-क्रांति में क्यों असफल रहे

(१) संगठित दल का अभाव—कोई भी निश्चित प्लैन जनता के सामने नहीं था। जिसके जो दिल में आया, उसने वही किया। कोई जनता का पथ प्रदर्शक नहीं था। आज मैं समझो कि तुम "आजाद हो गए" कह कर गाँधी जी चले गये। बगावत करना है, सिर्फ इसी भावना के आधार पर जनता ने अपनी तबीअत से जो दिल में आया, किया। बहुत जगह जनता प्रोग्राम पाने की आशा में बैठी रही।

(२) अपना सरकार कायम न कर सकने की भूल— जनता ने सरकारी शक्तिकेन्द्रों का ध्वंस तो किया पर अपना सरकार कायम नहीं की। याद रहे, वर्त्तमान युग में समाज के सामने कोई राजनीतिक संगठन चाहिये ही। जनता शून्य में नहीं रह सकती।

(३) फौज और पुलिस में संगठित कार्य्य का अभाव— फौज में पहले हमने जोर से काम किया ही नहीं था। क्रांति के बाद काम शुरू हुआ। किन्तु उसका असर हो, इसके पहले ही क्रांति

कुचल दी गई। पर चन्द दिनों की गर्मी में ही जो हुआ, उसका ज्वलन्त उदाहरण है 'जमशेदपुर की पुलिस का विद्रोह'।

(४) कार्यकर्त्ताओं में हिंसा-अहिंसा के नैतिक प्रश्न को लेकर दुविधा—यह प्रश्न बराबर उलझन पैदा करता रहा। क्रांति के समर में, जब दुश्मन सारी पाशविक शक्ति से हमें कुचलने को खड़ा था, हम नैतिक सिद्धान्तों की व्याख्या के पीछे पड़े हुए थे।

(५) सारे देश में एक बार कार्य नहीं शुरू हुआ—इससे भी सरकार को बहुत मदद मिली। रामनद की आग जब ठंडी हो चुकी तो कर्णाटक के जिलों में क्रान्ति फैली।

(६) निश्चित प्रोग्राम का अभाव—हर जगह यही प्रश्न था—"क्या प्रोग्राम है?" "गाधी जी का क्या आदेश है?"—सभी जैसे अंधेरे में राह टटोल रहे थे। अ० भा० का० कमेटी का गुप्त दफ्तर सैबोटेज के लिये सर्कुलर निकाल रहा था। बहुत से काग्रेसी इसका विरोध कर रहे थे। कोई थानों पर आक्रमण की तैयारी कर रहा था, कोई उसे रोक रहा था।

(७) निश्चित सामाजिक नीति का अभाव —हममें यह धारणा थी कि यह संघर्ष सभी वर्गों का सम्मिलित मोर्चा है इसीलिये हमने किसानों को जमीन दखल करने की पुकार नहीं दी। दूसरी ओर पूंजीपतियों ने भी हमारा साथ नहीं दिया। कुछ लोग साधारण सहायता समय समय पर देते रहे, पर हमारी आवश्यकताओं को देखते हुये नहीं के बराबर। और देशों के पूँजीपतियों ने अपने देशों की राष्ट्रीय लड़ाई के लिये जो बलिदान किया है और जितना यहाँ के पूँजीपति कर सकते थे, उसका लाखवा हिस्सा भी उन्होंने नहीं किया।

साथ-साथ, हम किसानों को भी जमीन दखल करने की पुकार नहीं दे पाये। १७८९ में ही फ्रांस के किसानों ने जमीन्दारों की जमीन और महल दखल कर लिए थे। सन् ४२ में हिन्दोस्तान के बहुत बड़े हिस्से में किसान आसानी से ऐसा कर सकते थे। फिर उनसे वापस लेना भी असम्भव ही होता। उस दशा में किसानों का आर्थिक स्वार्थ इतनी गहराई से क्रांति के साथ बँध जाता कि वे इसकी सफलता के लिये जी-जान लगा देते।

याद रहे' गांधी, जी का भी कुछ ऐसा ही ख्याल था। लूई फिशर ने अपनी किताब "गांधी के साथ एक सप्ताह' में लिखा है—

मैंने पूछा—"आजाद भारत में क्या होगा ? किसानों की हालत को सुधारने के लिये आपका क्या प्रोग्राम है।"

"किसान जमीन दखल कर लेंगे" गांधी जी ने कहा—"हमें उन्हें कहना नहीं होगा। वे स्वयं ले लेंगे।"

"क्या जमीन्दारों को किसी तरह का हर्जाना मिलेगा ?" मैंने पूछा।

"नहीं यह आर्थिक दृष्टि से असंभव होगा।" मुस्कराते हुए बोले "करोड़पतियों का एहसान भी हमें ऐसा करने से नहीं रोकता। हर गांव एक स्व-शासित इकाई होगा और स्वेच्छानुसार अपने जीवन का संचालन करेगा।"

दो दिन बाद फिर हमने पूछा—"आने वाला सविनय अवज्ञा आन्दोलन किस तरह का होगा ? इसकी शकल क्या होगी ?"

"गांवों में किसान कर देना बन्द कर देंगे" गांधी जी ने कहा—"वे सरकारी रोक के बावजूद नमक बनायेंगे। उनका दूसरा कदम होगा जमीन दखल करना।"

'जोर के साथ ?' मैंने पूछा—"हाँ हिंसा भी संभव है। पर सभव है जमींदार स्वयं सहायता करें" गांधी जी ने कहा।

"यह आपकी आशावादिता है"—मैंने कहा।

"वे गांव से भाग कर सहयोग कर सकते हैं।" 'अथवा वे सशस्त्र विरोध का भी संगठन कर सकते हैं।' मैंने कहा।

"संभव है, १५ दिन की अराजकता हो। लेकिन मेरा

सब से पहले तो प्रश्न उठता है कि यह क्रांति कब छेड़ी जाय ? जनता को मैदान में उतरने की पुकार कब दी जाय ? इसका फैसला जनता नहीं कर सकती। यह फैसला तो सारे देश की ओर से किसी एक जमात को करना होगा और सारे देश को एक साथ क्रांति-समर में उतरने का आह्वान देना होगा। गलत समय पर क्रांति की पुकार दे दी जाय, या समय आने पर भी न दी जाय, दोनों घातक हैं; जैसे गर्भ के दूसरे महीने में ही हम मान लें कि १० वाँ महीना आ गया, अथवा १० वें महीने में भी हम समझते रहें कि गर्भ नहीं है। सारे देश में एक साथ काम न हो, तो भी सफलता नहीं मिलेगी, जैसा कि १८५७ के विद्रोह में हुआ।

दूसरे, क्रांति का एक सार्वदेशिक प्लैन होना चाहिए। सरकारी ताकतों का मुकाबला, मेलवाली फौज का• टुकड़ियों का ठीक उपयोग, अपनी शक्तियों का सही प्रयोग, इन सब का उचित निर्णय सार्वदेशिक दृष्टि से ही देखने से हो सकता है। आगरे में फौज का एक टुकड़ा हमारे साथ हो गई,अब इसे कहाँ भेजा जाय, इसका फैसला आगरे की जनता पर नहीं छोड़ा जा सकता। आप पूछेंगे, आखिर पार्टी का केन्द्रीय दफ्तर इसे कैसे कर सकता है ? उत्तर है, रेडियो से। याद रखिये, इस युग की कोई भी क्रांति बिना रेडियो के सफल नहीं हो सकती। क्रांति का सार्वदेशिक प्लैन रेडियो का

ख्याल है हम इसे शीघ्र काबू म ले आयेंगे।" उन्होंने कहा।

"आप का ख्याल है जमींदारी प्रथा का नाश बिना मुआविजे के होना चाहिये।" मैंने पूछा।

"जरूर" गांधी जी ने सहमति दी "किसी के लिये जमींदारों को मुआविजा देना असंभव होगा।"

१९०५ की क्रांति का जो सम्बन्ध रूस की १९१७ की क्रांति से है, वही सम्बन्ध अगस्त की क्रांति का आगे आने वाली क्रांति से रहेगा। अगस्त क्रांति की रूप रेखा पर, इसकी कमियों को पूरा करने वाली जो क्रांति होगी, उसी में हिन्दोस्तान की पूर्ण आजादी और गरीबी तथा शोषण मिटाने याना समाजवादी व्यवस्था के कायम होने का प्रश्न हल होगा।

संगठित पार्टी का क्रांति में स्थान

पीछे लिखी गई सभी बातों के पूरा होने पर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिनके लिए एक संगठित क्रांतिकारी पार्टी की आवश्यकता रह जाती है. ऐसा निस्सन्देह कहा जा सकता है, बिना ऐसी पार्टी के क्रांति कभी सफल हो ही नहीं सकता।

सब से पहले तो प्रश्न उठता है कि यह क्रांति कब छेड़ी जाय ? जनता को मैदान में उतरने की पुकार कब दी जाय ? इसका फैसला जनता नहीं कर सकती । यह फैसला तो सारे देश की ओर से किसी एक जमात को करना होगा और सारे देश को एक साथ क्रांति समर में उतरने का आह्वान देना होगा । गलत समय पर क्रांति की पुकार दे दी जाय, या समय आने पर भी न दी जाय, दोनों घातक हैं; जैसे गर्भ के दूसरे महीने में ही हम मान लें कि १० वाँ महीना आ गया, अथवा १० वें महीने में भी हम समझते रहें कि गर्भ नहीं है । सारे देश में एक साथ काम न हो, तो भी सफलता नहीं मिलेगी, जैसा कि १८५७ के विद्रोह में हुआ ।

दूसरे, क्रांति का एक सार्वदेशिक प्लैन होना चाहिए । सरकारी ताकतों का मुकाबला, मेलवाली फौज की टुकड़ियों का ठीक उपयोग, अपनी शक्तियों का सही प्रयोग, इन सब का उचित निर्णय सार्वदेशिक दृष्टि से ही देखने से हो सकता है । आगरे में फौज का एक टुकड़ा हमारे साथ हो गई,अब इसे कहाँ भेजा जाय, इसका फैसला आगरे की जनता पर नहीं छोड़ा जा सकता । आप पूछेंगे, आखिर पार्टी का केन्द्रीय दफ्तर इसे कैसे कर सकता है ? उत्तर है, रेडियो से । याद रखिये, इस युग का कोई भी क्रांति बिना रेडियो के सफल नहीं हो सकता । क्रांति का सार्वदेशिक प्लैन रेडियो का

सहायता से ही चलाया जा सकता है। रेडियो का देश व्यापी जाल हमें पहिले से तैयार रखना होगा। यह काम भी पार्टी ही कर सकती है। पार्टी के विशेषज्ञों का काम होगा महीने महीने इस प्लैन में आवश्यक सुधार करते रहना। एक तरह से, पार्टी क्रांतिकारी सेना का जेनरल स्टाफ है।

फौज और पुलिस में काम भी एक केन्द्रीय समिति द्वारा ही संभव है। यह काम आम संस्थाओं का नहीं। दूसरे, यह काम केन्द्रित रहना चाहिये, अन्यथा हमारी क्या शक्ति है, इसका पता न होने से सार्वदेशिक प्लैन बनाना भी कठिन हो जायगा।

इस वर्ग-विभेद वाले समाज में जनता की सांस्कृतिक-अवस्था इतनी गिरी हुई है कि अक्सर उन्हें अपना हित भी समझ में नहीं आता। क्रांतिकारी विचार धारा का अगर इनमें प्रचार न हो, तो केवल उनकी गरीबी और दुःख ही उन्हें क्रांति की ओर नहीं ले जायेंगे। कभी-कभी ऊब कर वे छिटपुट विद्रोह कर दे सकते हैं। इसलिए किसान, मजदूर, तथा अन्य लोगों में क्रांतिकारी भावना भरना, उन्हें इस कार्य के लिए तैयार करना, उनके वर्ग-संघर्ष को कायम करना पार्टी का काम होता है।

इन सबों से हम इस नतीजे पर आए कि क्रांति की सफलता के लिए एक संगठित जानदार क्रांतिकारी पार्टी नितान्त आवश्यक है। इसके बिना क्रांति कभी सफल नहीं होगी।

पर क्रांति की सफलता के लिए एक और शर्त जरूरी है। क्रांतिकारी पार्टी ऐसी हो जिसका जनता पर असर हो। पार्टी ने सब तैयारी कर ली, क्रांति का अवसर भी आ गया, पार्टी ने क्रांति की पुकार दी, पर यदि जनता का उस पार्टी पर विश्वास न हुआ, तो पुकार अनसुनी रह जायगी। इस महायुद्ध के शुरू के दिनों में कम्युनिस्ट पार्टी और सुभाष बाबू दोनों ने आजादी की लड़ाई की पुकार दी, पर नतीजा क्या हुआ ? जनता पर कांग्रेसी नेताओं का प्रभाव था, उसने इनकी पुकार अनसुनी कर दी। इस विश्वास को प्राप्त करने के लिए पार्टी को वर्षों तक अथक परिश्रम करते रहना होगा। जनता का विश्वास वर्ष दो वर्ष में नहीं मिलता, केवल श्रम से भी नहीं मिलता, सब कुछ एक साथ होना चाहिए। अक्सर इतिहास में आप देखेंगे कि जिन्होंने लम्बे काल तक जनता का नेतृत्व किया है, वे यदि गलत भी कहें और आप सही, तो भी जनता आपकी नहीं सुनेगी। इसमें घबड़ाने की कोई बात नहीं। बहुत धीरज के साथ, सावधानी से जो पार्टी जनता की सेवा करती

रहेगा, सही रास्ता बताती रहेगी, उसका कुछ समय बाद जनता में स्थान हो ही जायगा।

क्रांति की सफलता की शर्तों को हम फिर एक बार दुहरा लें —

(१) क्रांति की पुकार ठीक मौके पर दी जाय।

(२) क्रांति के पीछे एक सुसंगठित जानदार पार्टी हो।

(३) उपर्युक्त प्रकार की पार्टी पर जनता का विश्वास हो।

(४) जनता आम हड़ताल या पूर्ण असहयोग करे।

(५) सारे देश के बहादुर नौजवानों की टोलियाँ जनता के आगे रहें।

(६) फौज का एक अच्छा हिस्सा भी हमारे साथ आ जाय।

यह हमने मान लिया कि देश में क्रांति का अनिवार्य सामाजिक अवस्था पैदा हो गयी है, देश की विशाल जनता क्रांति चाहती है और मजदूर वर्ग और गरीब किसान इस क्रांति के लिये सब कष्ट उठाने को तैयार हैं, ऐसी हालत में उपर्युक्त शर्तों के पूरा होने पर क्रांति सफल हो सकती है और युग की वेदना को हम

मिटा सकते हैं। इसलिये क्रांति उपासकों का धर्म है कि इन कार्यों को पूरा करने में वे सारी शक्ति लगा दें।

याद रहे—क्रांति सेवा है, क्रांति कला है, क्रांति युद्ध है! देश सेवक, कलाकार और योद्धाओं के नेतृत्व में ही क्रांति विजयिनी होती है।

साथ-साथ जिस पार्टी के पास अन्तिम संघर्ष की योजना, उसकी रूप-रेखा का स्पष्ट चित्र नहीं है, उसे अपने को क्रांतिकारी कहने का कोई हक नहीं है! 'संगठित क्रांति' की कल्पना और उसकी तैयारी ही एक वैधानिक दल से एक क्रांतिकारी पार्टी को अलग करता है। जन आन्दोलन बहुत बड़ी चीज है, यही हमारा जीवन है। पर केवल जन-आंदोलन ही, अन्तिम संघर्ष की कल्पना और उसकी तैयारी के बिना, हमें लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकता। यही नहीं, यह क्रांति में बाधक भी हो सकता है।

उपसंहार

कितना भी प्रभावशाली, कितनी भी शक्तिशाली क्रांतिकारी पार्टी हो, वह अपनी सुविधा या इच्छा से क्रांति पैदा नहीं कर सकती। अपने आप पैदा हुई क्रांति भी बिना क्रान्तिकारी दल की

सहायता के सफल नहीं हो सकती। विविध प्रकार के सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक कारणों के मिलने से क्रांति की आग फूटती है। ठीक-ठीक निश्चित रूप से कोई पहले से यह नहीं कह सकता कि अमुक समय में क्रांति होगी। भूकम्प, आँधी या तूफान की तरह हू हू कर क्रांति की ज्वाला फैल पड़ती है। अनुकूल शक्तियों के सहयोग के मिलने से नये समाज का जन्म होता है, अन्यथा प्रतिक्रिया के वातावरण में अपनी यादगारी छोड़ क्रांति विलीन हो जाती है।

१९१८ और १९३३ के बीच के १५ वर्षों में जर्मनी, ऑष्ट्रिया, इटली, हँगरी, स्पेन आदि देशों में क्रांति की जबर्दस्त लहरें उठीं, पर किसी भी देश का जनता को सफलता नहीं मिली। उनके कुचले जाने की कहानियाँ २० वीं सदी की सबसे दर्दनाक कहानियाँ हैं। इन क्रांतियों में मजदूर और किसानो ने अपना रक्त देने में जरा भी कजूसी नहीं की। इन सब क्रांतियों की असफलता के पीछे एक ही बात है—सुसंगठित क्रांतिकारी पार्टियों का अभाव।

इसलिये इस युग की क्रांतिकारी पार्टियों पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। कब क्रांति की लहर उठेगी, यह उन्हें पता नहीं।

उन्हें हर घड़ी सतर्क रहना है, उसके लिये पूरी तरह तैयार रहना है। क्रांति की पायल-ध्वनि कान में पड़ते ही उनके सारे तन्त्र को पूरे जोर-शोर से काम में लग जाना है। इतिहास के साथ बहाने-बाजी नहीं चलेगी, असावधानी नहीं चलेगी। विजय मुकुट ले राजसिंहासन पर चढ़ो या प्रतिक्रिया की चक्की के नीचे पिस कर कराहते रहो। क्रांति की सफलता और असफलता की जिम्मेदारी अब परिस्थिति पर नहीं व्यक्ति पर है।

क्रांति के सुअवसर की प्रतीक्षा में किसी दल को धीरज नहीं खोना है। ऐसे अवसर हर १० या १५ वर्ष में आते ही रहते हैं। पूंजीवादी समाज अपने आन्तरिक विरोधों से इस तरह चलता है कि वह कितना भी सभाले, आर्थिक और राजनीतिक संकट आये दिन आते ही रहेंगे। ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है, इन संकटों का रूप भी भयंकर होता जा रहा है। सत्ताधारियों का राजसिंहासन हिल चुका है, अब वह समय दूर नहीं जब इनका राजमुकुट धूल में लोटकर बलशाली बाहुओं की खोज करेगा।

भारत की शोषित और पीड़ित जनता! उस समय तुम अपने पुष्ट बाहुओं से इस राजमुकुट को उठाकर अपने मस्तक पर

सकोगी या नहीं यही एक प्रश्न है। और प्रश्न के उत्तर के लिये उत्सुक-दृष्टि से भारत का भावी इतिहास तुम्हारी ओर देख रहा है।

श्री सुदर्शन प्रेस, दरभंगा–२६३–६-५-४२–२००० ह०मा० ११९६